ISSN 2349-1906

साहित्य यात्रा

वर्ष 7 अंक 25 जनवरी-मार्च 2021

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

भवन निर्माण मंत्री एवं
पूर्व शिक्षा मंत्री डॉ. अशोक चौधरी को
'साहित्य यात्रा' के कैलेण्डर की प्रति
सौंपते पत्रिका के संपादक
प्रो. कलानाथ मिश्र।

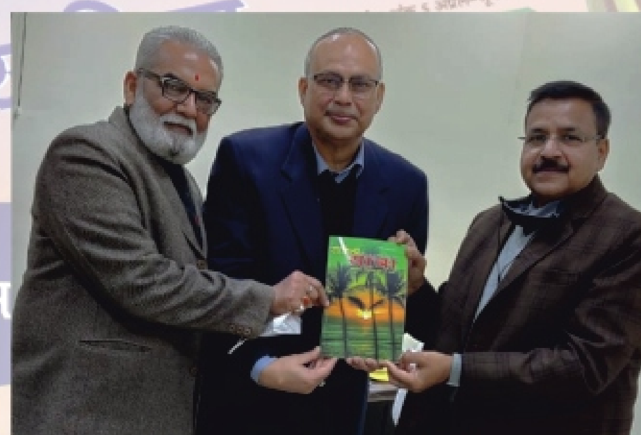

श्री मनोज कुमार झा
उपसचिव, बिहार लोक सेवा आयोग
को 'साहित्य यात्रा' की प्रति
सौंपते पत्रिका के संपादक
साथ में बाईं ओर हिन्दी के
प्रख्यात आलोचक एवं
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
कॉलेज ऑफ कॉमर्स

हिन्दी साहित्य के यशस्वी विद्वान
प्रो. बलराम तिवारी जी को
'साहित्य यात्रा' की प्रति
भेंट करते पत्रिका के संपादक।

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा का साक्षी

संपादक

प्रो० कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा
साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा का साक्षी

सदस्यता फार्म

'साहित्य यात्रा' विशिष्ट सदस्यता	:	1100/-
एक वर्ष (4 अंक)	:	500/- (डाक खर्च सहित)
तीन वर्ष (12 अंक)	:	1200/- (डाक खर्च सहित)
संस्थागत मूल्य (3 वर्ष)	:	1100/-
आजीवन सदस्यता	:	11000/-
विदेश के लिए (3 अंक)	:	60 डॉलर

(पटना के बाहर के चेक पर कृपया बैंक कमीशन के 40/- रूपये अतिरिक्त जोड़ दें।)
उक्त दर के अनुरूप मैं चेक / ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे ग्राहक बना कर मेरी प्रति निम्न पते पर भिजवाएँ।

नाम :-	पद :-
पता :-	
दूरभाष 1 :	दूरभाष 2 :
शहर :	पिन न० :-
देश :	ईमेल -
संकाय / विभाग / विद्यालय:	

भुगतान की जानकारी

नकद/बैंक रकम: रु०.. द्वारा..

डी0डी0/प्रत्यक्ष हस्तांतरण/चेक/बैंक का नाम :...

डी0डी/चेक/स्थानान्तरण संख्या :.................................. दिनांक :.......................................

दिनांक:		हस्ताक्षर (या पूरा नाम लिखें)	

ऑनलाइन हस्तांतरण विवरण :- साहित्य यात्रा, पंजाब नेशनल बैंक, एस.के. पुरी शाखा, पटना-1

खाता क्रमांक- 6236000100016263, IFSC- PUNB0623600

यहाँ से काटिए

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा का साक्षी

वर्ष-7 अंक-25 जनवरी-मार्च, 2021

परामर्शी

डॉ॰ सूर्य प्रसाद दीक्षित

डॉ॰ नरेन्द्र कोहली

डॉ॰ प्रेम जनमेजय

डॉ॰ हरीश नवल

डॉ॰ संजीव मिश्र

सम्पादकीय सलाहकार

श्री आशीष कंधवे

उप-संपादक

प्रो॰ (डॉ॰) प्रतिभा सहाय

डॉ॰ सत्यप्रिय पाण्डेय

सहायक संपादक

डॉ॰ रवीन्द्र पाठक

अमित कुमार मिश्र

साज-सज्जा

निशिकान्त / मनोज कुमार

संपादक

प्रो॰ कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार एवं दृष्टिकोण संबंधित लेखकों के हैं जिनसे संपादक, प्रकाशक, मुद्रक एवं पत्रिका से जुड़े किसी भी व्यक्ति का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। सभी विवादों का निपटारा पटना क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित है। पत्रिका में संपादन से जुड़े सभी पद गैर-व्यावसायिक एवं अवैतनिक है।

साहित्य यात्रा
साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा का साक्षी
RNI No. : BIHHINO5272
ISSN 2349-1906

विश्व विद्यालय अनुदान आयोग द्वारा पूर्व अनुमोदित

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के पुनः उपयोग के लिए लेखक,
अनुवादक अथवा **साहित्य यात्रा** की स्वीकृति अनिवार्य है।

संपादकीय कार्यालय
'अभ्युदय'
ई-112, श्रीकृष्णपुरी
पटना-800001 (बिहार)
मोबाइल : 09835063713/09304302308
ई-मेल : sahityayatra@gmail.com
kalanath@gmail.com
वेब साईट : http:/www.sahityayatra.com

मूल्य : ₹ 45

प्राप्ति स्थान :

पटना-
आलोक कुमार सिंह, मैग्जीन हाउस, शालीमार स्टूडियो के पास,
सहदेव महतो मार्ग, बोरिंग रोड, पटना-800001

दिल्ली -
1. आर.के. मैग्जीन सेन्टर, क्रिश्चियन कॉलोनी, पटेल चेस्ट,
   दिल्ली, वि.वि., दिल्ली-11007
2. राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, मंडी हाउस, नई दिल्ली

शुल्क **'साहित्य यात्रा'** के नाम पर भेजें।

'साहित्य यात्रा' त्रैमासिक डॉ० कलानाथ मिश्र के स्वामित्व में और उनके द्वारा 'अभ्युदय' ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001, बिहार से प्रकाशित तथा ज्ञान गंगा क्रियेशन्स, पटना से मुद्रित। स्वामी/संपादक/प्रकाशक/मुद्रक : प्रो० कलानाथ मिश्र।

अनुक्रम

संपादकीय 07
कोरोना काल में संवाद की कला

आत्मकथा-अंश
याद आती हैं माँ की वे ममतालु आँखें 11
प्रकाश मनु

आलेख
रासो काव्य में वर्णित कथानक रूढ़ियाँ 23
डॉ. रंजना जायसवाल

आलोचना की भाषा 26
डॉ. सतीश कुमार पडोलकर

आधुनिक हिंदी साहित्य में पर्यावरणीय चेतना 34
कृष्ण बिहारी पाठक

हिन्दी का उद्भव, विकास, विस्तार और संभावनाएँ 42
गंगाधर शर्मा 'हिन्दुस्तान'

सामाजिक विषमता के कुशल चितेरा : निराला 46
राजेन्द्र परदेसी

बेगानेपन, आत्म-विच्युति और विस्थापन के प्रतिरोध की कहानियाँ 52
संजय कुमार सिंह

कनरपी घाट का युद्ध और जंगनामा : एक तुलनात्मक विमर्श 56
डॉ. सत्य प्रिय पाण्डेय

समकालीन काव्य में सांस्कृतिक स्वर 64
डॉ. जया आनंद

प्रसाद कृत कामायनी में सामाजिक संदर्भ 69
डॉ. सिद्धेश्वर प्रसाद सिंह

बिहार की गौरवपूर्ण हिन्दी-साहित्यिक पत्रिका ''सुसंभाव्य'' 77
अमित कुमार मिश्रा, डॉ. अमरकांत कुमर

समीक्षा
सहज कहानियों का आत्मीय जगत 83
महेश दर्पण

आलेख
आचार्य नलिन विलोचन शर्मा की समीक्षा-दृष्टि : सीमाएँ एवं संभावनाएँ 88
प्रगति चौधरी

दलित साहित्य के दर्शन और उसकी वैचारिकता 94
आनंद दास

साक्षातकार
ख्याति ऐतिहासिक उपन्यासकार, कथाकार शरद पगारे से साक्षातकार 98
शकील अख्तर

समीक्षा
संवेदनाओं को अभिव्यक्त करती कहानियाँ 104
डॉ. संजय चौहान
आलेख
उमाशंकर चौधरी की कविताओं में लोकतंत्र विमर्श के विभिन्न आयाम 107
रेश्मा एम. एल.
संस्मरण
तुलसी के बाद किसी ने काव्य लिखी ही नहीं : माधवन 114
पारस कुंज
यात्रा संस्मरण
यात्रा संस्मरण 118
शैलेन्द्र श्रीवास्तव
आलेख
निराला की प्रगतिशीलता 124
डॉ. रत्नेश्वर सिंह
संस्मरण
मन की बात 127
सुधा गोयल
समीक्षा
अंधेरे से प्रकाश की यात्रा 129
सुभाष रस्तौगी
लघुकथाएँ
पराजित ममता 132
डॉ. संजीव चौधरी
पुस्तक चर्चा
स्त्री मन का विराट मानवीय विस्तार 134
आनन्द वर्धन द्विवेदी
गीत
रात हमारी बात न माने, राम जन्मभूमि 138
डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र
कहाँ गई सावन में 139
डॉ. अमर कान्त कुमर
दस्तावेज
हिन्दी का भावी रूप 140
डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु
नवांकुर
मिल जाये ''खुदा'' तो 144
गुड़िया कुमारी

सम्पादकीय

मैं हूँ हिन्दी का रविन्द्र

आज़ वसंत पंचमी का दिन है। और **'साहित्य यात्रा'** के इस अंक का सम्पादकीय लिखने बैठा हूँ। मन-मस्तिष्क में महाप्राण निराला की अनेक छवियाँ छवि घूम रही हैं। उनकी कविताओं में ध्वनित जागृत चेतना रह-रह कर मुझे साहित्य को, समाज को नए सिरे से देखने परखने का पाठ पढा रही हैं। निराला वाणी वंदना कर रहे हैं-

वर दे, वीणावादिनी वर दे!
प्रिय स्वतंत्र-रव अमृत-मंत्र नव
भारत में भर दे!
काट अंध-उर के बंधन-स्तर
बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर
कलुष-भेद-तम हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे!

मन पूछता है कि क्या माँ वीणावादिनी ने निराला की पुकार सुन ली है? क्या भारत में सब ओर प्रिय स्वतंत्र रव, अमृत मंत्र रव व्याप्त हो गया है? क्या उर के अंधकार कट रहे हैं? कलुष-भेद का तम मिट रहा है? अनेक प्रश्न मन को आच्छादित कर रहे हैं।

मनुष्य की मुक्ति, कविता की मुक्ति...। उनकी कही बात कि 'जिस तरह मुक्त मनुष्य कभी किसी तरह भी दूसरे के प्रतिकुल आचरण नहीं करता...' चलिए मैं क्या कहूँ? उन्हीं की जुबानी सुन लीजिए-

''मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना। जिस तरह मुक्त मनुष्य कभी किसी तरह भी दूसरे के प्रतिकूल आचरण नहीं करता, उसके तमाम कार्य औरों को प्रसन्न करने के लिए होते हैं, इसी तरह कविता का भी हाल है। मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, प्रतित्युत उससे साहित्य मे एक प्रकार की सर्वाधिक चेतना फैलती है... ।परिमल, भूमिका, पृ-8

'दुख ही जीवन की कथा रही' लिखने वाला जब 'राम की शक्तिपूजा' लिखता है, तुलसीदास, बेला, अणिमा, कुकुरमुत्ता, नये पत्ते, अर्चना आराधना जैसी रचनाओं का सृजन करता है तो लगता है जैसे कवि का पौरुष संघर्षों के बीच से सृजन का बीज बो रहा है। उसके भतीर का विषाद 'स्व' की सीमा से ऊपर उठकर सम्पूर्ण मानवता को सुखी बनाने की ओर अग्रसर होने

लगता है। महाकवि की रचनाओं में उनका निर्बंध व्यक्तित्व और स्वच्छंद जीवन दर्शन की प्रतिध्वनि हमें सुनाई पड़ती है। निराला की कविताओं का सौन्दर्य बोध उनकी संवेदना से मिलकर दु:खी मानवता को सुख प्रदान करती है। उनकी कविताओं में जागृत चेतना ध्वनित हुई है। नव जागरण को वे मानव मुक्ति से जोड़कर देखते हैं।

वस्तुत: मनुष्य के प्रति सृजनकर्ता के दायित्व बड़े होते हैं। सजग रचनाकार को इन दायित्वों के अनुरूप ही अपनी संवेदना, अपनी चेतना का विस्तार करना होता है। वह अपने व्यक्तिगत संघर्ष तथा अपनी निजी सुखदुखात्मक अनुभूति तक सीमित नहीं रह सकता। निराला ने समाज और जीवन के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह 'स्व' की सीमा से विमुक्त होकर पूरी जिम्मेदारी के साथ किया।

महाप्राण निराला की रचनाओ में जागृति, चेतना और प्रगति का स्वर मुखर हो उठता है। यदि हम उनकी राम की शक्ति पूजा को स्मरण करें तो निश्चय ही 'राम की शक्ति पूजा' अंधकार से होकर प्रकाश में आने की कविता है। रवि हुआ अस्त... से आरम्भ हुई कविता में कवि अंधकार को प्रभावी भूमिका में दिखाता तो है, किन्तु पुन: राम स्वयं को तपते हुए अनुभव करते हैं और धीरे-धीरे उनकी यह तपन पूरी प्रकृति में स्पंदित होने लगती है। किसलयों का काँपना, फूलों से पराग का प्रसव, खगों द्वारा नये जीवन का कलरव-गान तथा स्वर्गीय ज्योति के प्रपात का झर-झर उनकी अपनी ही अनुभूति का व्यापक विस्तार है।

जिस प्रकार वैयक्तिक अनुभूति का समष्टिगत अनुभूति से तारतम्य निराला ने स्थापित किया है, जिस प्रकार निराशा की भाव भूमि पर आशा के आलोक का दर्शन उनकी रचनाओं में होता है वह अद्वितीय है। दूसरी ओर पुत्री 'सरोज' की मृत्यु के दु:ख से इतर पिता जब कवि के रूप में 'सरोज स्मृति' की रचना करता है तो वह निर्वैयक्तिक हो जाता है। 'सरोज स्मृति' के सौन्दर्य चित्रण में भी पाठक शोक को शक्ति में परिवर्तित होते देखते हैं।

निराला छायावाद से प्रगतिवाद की ओर अग्रसर हुए हैं। किन्तु आरंभ से ही उनकी रचनाओं में एक नवीनता रही है। जीवन सत्य की व्यंजना उनका मूल उद्देश्य रहा है और उसके लिए वे किसी भी परंपरा बंधन को चुनौती देते रहे हैं।

निराला में असाधारण साहित्यिक मर्यादा थी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने निराला के इस मर्यादा गुण का विश्लेषण करते हुए लिखा है-

''विद्रोह के स्वर में बोलने वाले साहित्यकारों की इस युग में कमी नहीं। पुरातन विधि-निषेध-व्यवस्था को खुली चुनौती देना आजकल की अति परिचित घटना है। सनातन समझी जानेवाली नैतिकता निस्संदेह आज-कल सबसे प्रधान मंतव्य मानी जाने लगी है। किन्तु इस प्रकार की चुनौती देने वाले प्राय: संतुलन खो बैठते हैं; व्यवस्था का विरोध प्राय: उच्छृंखलता के द्वारा किया जाता है।....किन्तु निराला के काव्य में इतना विद्रोह और ललकार होने पर भी उच्चश्रृंखलता और निमर्यादित वाचालता नहीं आने पायी है। इसका कारण यह है कि निराला जी को अपना लक्ष्य ठीक मालूम है। अच्छा डॉक्टर रोग पर आक्रमण करता है रोगी पर नहीं। और इसी लिए उसके सारे प्रयत्नों की एक सीमा होती है। यदि उसके प्रयत्न रोग को नष्ट करने के बाद रोगी को भी नष्ट करने

लगे तो निस्संदेह वह अवांछनीय डाक्टर है। निराला जी के कठोर-से-कठोर आक्रमण भी मर्यादित है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है।'' निराला की कविता, आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री,अवन्तिका, जुलाई 1954

बंगाल में जन्म होने के कारण निराला जी की मातृभाषा बंगला थी। बंगला की संस्कृति और संस्कृत भाषा के साथ-साथ अंग्रेजी का सान्निध्य हुआ। और इन तीन भाषाओं की संस्कार के साथ वे हिन्दी में आए। भारतीय दर्शन की गहन अध्ययन के कारण अभिव्यक्ति में प्रौढ़ता हमें सर्वत्र उनकी रचना में मिलता है। जिसका उदाहरण रामकृष्ण मिशन की ओर से प्रकाशित 'पत्रिका', 'समन्वय' हिन्दी पत्र 'मतवाला' में उनका सम्पादन कौशल दिखता है।

'जागो फिर एक बार' और 'बादल राग' जैसी कविताओं में निराला का क्रान्तिकारी मानवीय स्वर तो मानो जागरण का मंत्र है। 'जागो फिर एक बार' की इन पंक्तियों को देखें-

'सिंह की गोद से /छीनता रे शिशु कौन?

मौन भी क्या रहती वह/रहते प्राण? रे अजान !'' जागो फिर एक बार-2, परिमल, पृ-157

निराला का भाषा पर अद्‌भुत अधिकार था। उनके शब्दों में उनके भाव सटीक ध्वनित हुए हैं। उन्होंने शव्यसाची की तरह तुकान्त और अतुकान्त में समान अधिकार से सृजन किया है। निराला के गीतों में शब्दों का चयन ऐसा है जिससे उसमें व्यंजित भावो को परत-दर-परत उकेरा जा सके।

अंग्रेजी में लिखे एक निबंध में डॉ. दामोदर ठाकुर ने लिखा है- "poets build the standard of their language that is why perhaps no comparison within Hindi poentry will so vary clearly what Nirala has done for the langrage." Dr Damodar thakur on Nirala

निराला संघर्ष और दु:ख से पराजित नहीं होते। वे उससे लोहा लेते दिखते हैं। फरवरी माह के पाँच तारीख को यशस्वी कवि आचार्य जानकी बल्लभ शात्री का भी जन्म है। आइए निराला के संबंध में शास्त्री जी एक निबंध में क्या कहा है? देखें।

''निराला की कविता की सुनहली तरुणाई 'परिमल' से 'तुलसीदास तक' रूप, रस गंध की पर्तों पर पर्तें बिछाती गई। एक जगह उन्होंने लिखा है- देव दुर्लभ मानवता रक्त मज्जंवाले आदमी की सूरत से ढ़ल चली थी; ह्दय से अमृत में आँसू, पसीने और खून की सर्दी गर्मी भी धुलने लगी थी। और निराला ने 'कुकुरमुत्ता', 'वेला' और नए पत्ते में धरातल बदल दिया। नई जिंदगी के पाँव के नीवे की जमीन टटोलते और अपनी नई कविता के लिए नए प्रतीक और प्रतिमान गढ़ते हुए निाला ने यह गुर पा लिया था।'' निराला की कविता, जानकी वल्लभ शास्त्री।

सच निराला ने हिन्दी के जितना दिया उसे शब्दों में व्यक्त करना कठिन है। इस संदर्भ में मैं निराला से 1956 में कैलाश कलपित के द्वारा लिये गए साक्षात्कार का यह अंश पाठकों के लिए उद्धृत कर रहा हूँ। एक बार निराला से जब पूछा गया कि ''हिन्दी को जो सेवाएँ आपने दी है उसके बदले में आप कैसी सेवाएँ चाहते हैं?

निराला ने उत्तर में कहा कि- ''हिन्दी वालों पर मैंने कोई एहसान नहीं किया है और न मैं उसके बदले कुछ चाहता हूँ। हिन्दी हमारी है और उसके लिए जो कुछ हमसे बन पड़ा हमने दिया।

गाँधी जी जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति थे और उन्होंने उर्दू के प्रभाव में पड़कर हिन्दुस्तानी की बात करते थे तो मैंने उनसे पाँच मिनट का इन्टरव्यू लेकर 20 मिनट तक उन्हें झकझोरा था। **उन्होंने बात ही बात में जब यह आक्षेप किया कि हिन्दी में कोई रविन्द्र नहीं है तो मैंने कहा था- मैं हूँ।** मुझसे सुनिए। अभी सुना सकता हूँ, हाँ हिन्दुस्तानी में आपको कौन से रविन्द्र दिखाई दे रहे हैं, मैं नहीं कह सकता। गाँधी जी चिढ़ गए थे, वे बोले आपने बहुत समय अनावश्यक ले लिया और मैंने चलते हुए कहा था- हिन्दी ही राष्ट्रभाषा होगी याद रखना।'' निराला जी का साहित्यिक इन्टरव्यू, कैलाश कलपित, अवंतिका, पृ. 191 अगस्त 1956

वास्तव में वे एक ऐसे साधक के रूप में हिन्दी में अवतरित हुए जिन्होने संघर्ष के बीच रहकर, उससे लोहा लेते हुए सृजन का बीज बोया। उनकी समस्त रचना इसकी गवाही देती है।

जीवन और परिवेश के कण-कण में अपनी रचना से शक्ति का संचार करने वाला कवि स्वयं दु:ख अभव और तिरस्कार झेल कर भी विचलित नहीं हुआ। भटका नहीं। उसने इसी परिस्थितियों के सामने हथियार नहीं डाला। बल्कि डट के लोहा लिया।

यह तो हुई तपस्वी निराला की बात। इस अंक में निराला पर दो आलेख प्रकाशित कर रहा हूँ।

'नंदन' का पच्चीस वर्षो तक संपादन करने वाले यशस्वी साहित्यकार विशेष रूप से बाल साहित्य के पुरोधा रचनाकार आदरणीय भाई प्रकाश मनु जी का आत्मकथा अंश प्रकाशित कर रहा हूँ। हिन्दी में बाल साहित्य पर और बहुत कुछ करने की आवश्यकता है। देश और समाज के निर्माण के लिए श्रेष्ठ बाल साहित्य का होना आवश्यक है। विगत दिनों प्रकाश मनु जी से इन्हीं विषयों पर चर्चा हो रही थी। मैंने पूछा 'साहित्य यात्रा' के लिए आपके पास क्या है? उन्होंने कहा आत्मकथा लिख रहा हूँ। मैंने कहा वही भेज दीजिए। वरिष्ठ साहित्यकार आदरणीय रामदरश मिश्र की संध: प्रकाशित पुस्तक 'एक भटकी हुई मुलाकात' इसके साथ ही महेश दर्पण द्वारा की गई समीक्षा प्रकाशित है।

वरिष्ठ साहित्यकार 'शरद पगारे जी से शकील अख्तर ही बात चीत और दस्तावेज स्तंभ के अंतर्गत इस बार डॉ. लक्ष्मी नारायण सुधांशु जी का सम्पादकीय 'हिन्दी का भावी रूप' प्रकाशित है। आवरण पृष्ठ पर इस वर्ष बिहार के कुछ दर्शनीय एवं ऐतिहासिक स्थलों की तस्वीर कलात्मकता के साथ देने की योजना है। उसी योजना के तहत इस अंक के आवरण की पृष्ठभूमि में पटना संग्रहालय का चित्र अंकित है। आशा है यह अंक भी पूर्व की भाँति आपके द्वारा समादृत होगा।

इति शुभम्।

कलानाथ मिश्र

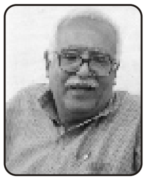

आत्मकथा-अंश

याद आती हैं माँ की वे ममतालु आँखें

प्रकाश मनु

माँ की छवियाँ बचपन की उन निहायत मासूम और धुंधभरी परतों तक फैली हैं जब मुझे अपने और आसपास की शायद ही कोई चेतना रही हो। लेकिन माँ का होना तब भी महसूस होता था। माँ की बातें तब भी अच्छी लगती थीं। शायद इसलिए कि ये बातें सिर्फ बातें नहीं थीं। ये वो प्यारा-सा तिनकों का घोंसला थीं जिसमें सिर छिपाए - छिपाए, आसपास के ढेर सारे जंजालों से बचता हुआ, मैं धीरे-धीरे बड़ा हो रहा था।

माँ को याद करता हूँ तो सबसे पहले उनकी आँखें याद आती हैं। वें आँखें जिनमें एक बच्चे का-सा भोलापन था और जानने-समझने की अनवरत जिज्ञासा। इसीलिए हम अपने तईं कोई साधारण - सी बात भी कहते, तो माँ की उत्सुक आँखें फैल जातीं। थोड़ी देर तक अपने 'सामान्य ज्ञान' से वे उसे समझने की कोशिश करतीं और फिर अगले ही पल चकित स्वर में कह उठती, ''हच्छा...!''

इसीलिए माँ थीं तो जीवन में कोई बनावट नहीं थी, जीवन में कोई जटिलता या असहजता नहीं थी। जीवन में कोई डर नहीं था। माँ माँ थीं तो आस्था का समंदर भी। जीवन वहाँ ठाठें मारता। कुछ अरसा पहले 'कथादेश' में गार्सीया गाब्रिएल मार्केस का इंटरव्यू पढ़ रहा था, जिसका खूबसूरत अनुवाद मंगलेश डबराल ने किया है। उसमें खासकर स्त्रियों को लेकर उन्होंने कुछ अद्‌भुत बातें कही हैं। उन्हीं में से एक बात यह भी है कि ये स्त्रियाँ ही हैं जो जीवन को थामे रहती हैं। यह जीवन को थामे रहना क्या है और स्त्रियाँ यह काम कैसे करती हैं? इस पर गौर करते हुए मुझे माँ की याद आई। कैसे एक बारीक, बहुत बारीक और अदृश्य तार से उन्होंने हमारे पूरे घर को जोड़ा हुआ था और कैसे उस बारीक तार के न रहने पर बहुत कुछ तिनका-तिनका होकर बिखर गया! इसे याद करता हूँ तो फिर माँ का होना बहुत-बहुत याद आता है।

यों माँ को लेकर दुनिया की तमाम भाषाओं के साहित्य, खासकर लोक साहित्य में

कुछ कम नहीं कहा गया। लंबी दाढ़ी और जिंदादिली से भरपूर हमारे घुमंतू साहित्यकार सत्यार्थी जी अकसर एक पुरानी कहावत दोहराया करते थे कि ईश्वर ने माँए बनाईं, क्योंकि वह सब जगह उपस्थित नहीं रह सकता था। मुझे लगता है कि माँ को लेकर इससे बड़ी कोई बात शायद ही कही जा सकती हो।

सच तो यह है कि मुझे ईश्वर पर भी भरोसा इसलिए है कि मैंने माँ को देखा है। लगता है, जिसने मेरी माँ को बनाया, वह सचमुच कुछ न कुछ होगा! वह सचमुच महान होगा! जीवन में विश्वास, आस्था, भद्रता और न जाने कौन-कौन सी अच्छी चीजें इसीलिए हैं क्योंकि माँ है और उसका होना हमारे पूरे जीवन में व्याप्त है, उसके न रहने पर भी!

सत्यार्थी जी के जिस विचार की ऊपर चर्चा की है, वह उनके उपन्यास 'दूध-गाछ' का तो केंद्रीय विचार या 'सिगनेचर टड्न' ही है। एक और दिलचस्प बात यह है कि 'दूध-गाछ' उपन्यास में दूध-गाछ माँ के लिए ही आया है, यानी कि माँ जो 'दूध का पेड़' भी है- पूरी दुनिया को तृप्त करने के लिए उगा दूध का दरख्त! सचमुच यह कल्पना ही अनोखी है।

इस दुनिया में माँ का होना भी तो सचमुच ऐसा ही अनोखा है। माँ न होती तो यह दुनिया न इतनी खूबसूरत होती, न अनोखी और न इतने बारीक, परत-दर-परत रहस्यों से भरी!

माँ की छवियाँ बचपन की उन निहायत मासूम और धुंधभरी परतों तक फैली हैं जब मुझे अपनी और आसपास की शायद ही कोई चेतना रही हो। लेकिन माँ का होना तब भी महसूस होता था। माँ की बातें तब भी अच्छी लगती थीं। शायद इसलिए कि ये बातें सिर्फ बातें नहीं थीं। ये वो प्यारा-सा तिनकों का घोंसला थीं जिसमें सिर छिपाए-छिपाए, आसपास के ढेर सारे जंजालों से बचता हुआ, मैं धीरे-धीरे बड़ा हो रहा था।

माँ जब पड़ोसिनों और सहेलियों से बतिया रही होती थीं, तो मुझे अच्छी तरह याद है, एक नन्हे, उत्सुक बच्चे के रूप में मेरा घुसकर उस मंडली में बैठना और गौर से माँ की बातें सुनना। कुक्कू बचपन में मेरा घरेलू नाम था। प्यार से पुकारने का नाम। तो माँ और सहेलियाँ कई बार कटाक्षपूर्ण हँसी हँसते हुए बरज भी दिया करती थीं कि 'ओए कुक्कू! तू क्या सुन रहा है? तुझको क्या समझ में आएँगी ये औरतों की बातें!'

और वे बातें क्या हुआ करती थीं, 'नीं शाणिए, जद मेरा कुक्कू होया सी...!' या 'जिस वेले मेरा श्याम होया...!' या मेरा 'मेरा किशन, जगन हाले छोटा-ज्या सी...!' और तब क्या-क्या संकट आए या क्या-क्या आश्चर्यजनक चीजें घटित हुईं, वही सब उन अकथ कहानियों का सार था जिन्हें 'औरतों की बातें' कहा जाता था। उन्हीं के बारे में माँ अपनी साथिन स्त्रियों से घंटों तक बतियाती रह सकती थीं और गरमी की लंबी-लंबी दोपहरियाँ और शामें सुख-दुख की इन सहज-सहज बातों के जाल में उलझकर कैसे उड़न-छू हो जाती थीं, यह आज भी मुझे किसी आश्चर्य की नाईं लगता है!

और इतनी ही आश्चर्य की बात यह भी लगती है कि मुझ एक नन्हे बच्चे को इन बातों में ऐसी क्या अकूत दिलचस्पी थी कि बातें समझ में आएँ या न आएँ, मगर वह खत्म होने में न आती

थी। और मैं आँखें फैलाए हुए एकटक उन बातों को सुनता, बल्कि पीता था। मेरे लिए दिलचस्पी की बात यही थी कि वे माँ की बातें थीं! पर माँ और उनकी सहेलियाँ जब इतने गौर से मुझे बातें सुनते देखती थीं, तो हँसकर टोक दिया करती थीं, 'चल-चल परे हट! तूँ की सुण रेया एँ!' (चलो-चलो, दूर हटो। तुम क्या सुन रहे हो!)

बहुत छुटपन की स्मृति। माँ सिर पर कपड़ों की बड़ी सी गठरी रखे, तालाब पर कपड़े धोने जा रही हैं और मैं साथ हूँ। माँ तालाब के किनारे पड़े पत्थर पर रगड़-रगड़कर कपड़े धो रही हैं और मैं खेतों की मेड़ पर उगे पीले-पीले सुंदर वनफूल तोड़ने और आसपास दौड़ लगाने में मगन हूँ। उन दिनों जानता कम था, लेकिन चीजें महसूस खूब होती थीं। मसलन सर्दियों की गुनगुनी धूप में दौड़ने-भागने और खेलने का सुख क्या है, यह खूब अच्छी तरह महसूस करता था और प्रकृति की अंतरंग सुंदरता को भी! मन तो उत्साह से भरा हुआ-सा पुकारता था, 'अरे वाह, तालाब के आसपास के खेतों में सरसों क्या खूब लहक-लहककर उगी है! और सरसों के पीले-पीले फूल ही नहीं, उसकी गंध भी चारों ओर एक झालर-सी रचकर, आसपास के पूरे माहौल को मानो एक अद्‌भुत उत्सव में ढाल रही है।' याद है, उस दिन कोई चार बरस की उम्र में मैंने प्रकृति के अनंत विस्तार की अनुभूति की थी। लगा, मेरा हृदय फैलकर बहुत बड़ा हो गया है और उसमें बहुत कुछ समाता चला जा रहा है। यहाँ तक कि पूरा का पूरा तालाब, आसपास के लह-लह करते खेत और पीले फूलों वाली जंगली झाड़ियाँ भी। यह एक शिशु के मन में जनमी शायद पहली नन्ही कविता थी।

एक और पुराना लेकिन गहरा-गहरा-सा चित्र। माँ एक डोलू में गुड़ के शीरे में डुबोई हुई डोइयाँ (आटे की छोटी-छोटी टिकड़ियाँ) लिए, तालाब के पास 'गुग्गा' यानी 'गोगा पीर' या फिर कहिए ग्राम देवता को पूजने जा रही हैं और मैं साथ हूँ। पूजा के बाद गुड़ के शीरे में डूबी हुई डोइयाँ मिलती हैं और मुझे लगता है, इससे अधिक स्वादिष्ट चीज दुनिया में कोई और नहीं है। मैं माँगकर और डोइयाँ लेता हूँ। माँ मेरी कटोरी में ढेर सारा शीरा और दो-एक डोइयाँ रख देती है और मुझे लगता है, दुनिया सचमुच कितनी खूबसूरत और स्वाद भरी है!

याद आता है, माँ नहाते समय कुछ पंक्तियाँ दोहराया करती थीं। इनमें ये दो पंक्तियाँ जरूर होती थीं, 'गंगे मल-मल नहाइए, स्त्री दा जनम कदी न पाइए...!' माँ बार-बार इन पंक्तियों को दोहराती थीं, मानो इन्हें बार-बार दोहराना ही उन्हें किसी 'मुक्ति आश्वासन' की तरह लगता हो। स्त्री का जीवन कष्टकारी है, पर उसे बदलने के बजाय बस प्रार्थना करनी चाहिए, शायद यही बस माँ के हिस्से का 'सच' रहा होगा! इस सच की सीमा हो सकती है पर इस सच को साकार करने की माँ की साधना की कोई सीमा नहीं थी।

यों माँ का जीवन दुख, निराशा या किसी किस्म की हीनता से मलिन न था। वे कमेरी थीं और हर दिन उत्साह से नए दिन का स्वागत करती थीं। याद आती है कोई आधी सदी से भी अधिक पुरानी सर्दियों की सुबह। हम लोग तब छोटे-छोटे थे। बड़ी भोर में उठकर, अभी हम बिस्तर पर ही होते थे कि माँ किसी चिड़िया की तरह धीमे-धीमे गुन-गुन करके एक गीत छेड़ देती थीं। और हम अनजाने ही उसे दोहराने लगते थे। सचमुच बड़ी मिठास थी इस गीत में और यह एक मीठी और

उत्साह भरी भोर के स्वागत-गान सा लगता था-

उठ जाग सवेरे!
गुराँ दा ध्यान,
गंगा इश्नान।
हथ विच लोटा,
मोढे लोई,
राम जी दी गउआँ
सीता दी रसोई...!

(उठो, बड़ी सुबह-सवेरे उठ जाओ। गुरुओं का ध्यान और गंगा-स्नान करो। हाथ में लोटा और कंधे पर दुशाला। राम जी गउएँ चरा रहे हैं और माँ सीता रसोई तैयार कर रही हैं।)

गीत क्या था, मानो हिंदुस्तानी दांपत्य का आदर्श सामने रखा गया था। एक कर्मलीन जीवन का सीधा-सादा चित्र।...काफी लंबा गीत था। धीरे-धीरे बड़ी आरामदारी की-सी सहज, मंथर लय में आगे बढ़ता हुआ। और इसी में आगे चलकर एक पंक्ति आती थी जो मुझे बड़ी प्यारी लगती थी, 'चिड़ियाँ वी चुनगुन लाया ई, उठ, जाग सवेरे!!' (चिड़ियों ने भी चुनगुन का राग छेड़ दिया है। बड़ी सुबह-सवेरे उठ जाओ।)

इसी तरह याद पड़ता है कि गायत्री मंत्र भी मुझे पहलेपहल माँ से ही सुनने को मिला। बल्कि सर्दियों की एक सुबह, माँ ने अपनी मीठी, खरखरी आवाज में मुझे यह मंत्र अच्छी तरह याद करा दिया था। आज जब कि नाना जी के असाधारण व्यक्तित्व के बारे में कश्मीरी भाईसाहब से काफी कुछ सुन चुका हूँ, मैं कल्पना कर सकता हूँ कि मेरे विद्वान नाना जी ने कैसे माँ को यह गायत्री मंत्र याद कराया होगा! और जब माँ से वही मंत्र किसी जादुई प्रभाव से मुझ तक आ गया तो मानो माँ के रूप में नाना जी ही वह मंत्र मुझे याद करा रहे थे! जीवन के विकास का यही तो शाश्वत मंत्र है। और यह जितना सीधा-सरल है, उतना ही रहस्यमय भी!

माँ की सुनाई कहानियों की भी मुझे खूब अच्छी तरह याद है। इनमें एक तो 'अधकू' वाली कहानी थी, जिसका मुझ पर खासा असर पड़ा था। हालाँकि यह कहानी शायद जस की तस मुझे याद नहीं रह गई। इस कहानी को मैंने थोड़ा अलग रूप देकर अपनी बाल कहानियों की पुस्तक 'इक्यावन बाल कहानियाँ' में शामिल किया है। पिछले दिनों कश्मीरी भाईसाहब मेरी बाल कहानियों की किताब पढ़कर इस कहानी की चर्चा कर रहे थे, तो एकाएक उनकी बड़े जोरों की हँसी छूट गई। जाहिर है, इस कहानी को पढ़ते-पढ़ते वे भी मेरी तरह अपने बचपन की सीढ़ियाँ उतरकर बचपन के जादुई संसार में चले गए होंगे! शायद यही असर होता है, बचपन में माँ से सुनी हुई कहानियाँ का।

इसी तरह माँ से सुनी कहानियों में एक थी सात कोठरियों वाली कहानी। राजकुमार से कहा जाता है कि वह इस महल की छह कोठरियाँ देख ले, लेकिन सातवीं नहीं। वरना वह मुसीबतों में फँस जाएगा। राजकुमार छह कोठरियाँ देखता है, लेकिन फिर सातवीं कोठरी देखने से भी खुद

को रोक नहीं पाता। होने दो जो होता है, पर एक बार तो मैं देखकर रहूँगा कि क्या है सातवीं कोठरी में? वह सोचता है। जिद ठान लेता है। और सचमुच सातवीं कोठरी में प्रवेश के साथ ही मुश्किलें एक के बाद एक भयंकर आँधी, पानी, तूफान की तरह- या फिर एक भीषण पंजों वाले गिद्ध की तरह उस पर टूट पड़ती हैं। पर वह हिम्मत नहीं हारता, बहादुरी से उन्हें झेलता है और आखिर एक दिन सफलता के ऊँचे शिखर पर खड़ा हुआ नजर आता है।...

माँ से यह कहानी सुनते हुए लगता था कि चाहे जो हो, मैं भी सातवीं कोठरी में जाकर देखूँगा कि वहाँ भला कौन-सा रहस्य छिपा हुआ है। फिर चाहे जिऊँ या मरूँ! तब चाहे न सोचा हो, पर अब कई बार मैं हैरान होकर सोचता हूँ- तो क्या साहित्य की दुनिया में आना वही सातवीं कोठरी में झाँकना है जिसमें रहस्य ही रहस्य भरे पड़े हैं और अपनी तरह के 'खतरे' भी? मैं हैरानी से सोचता हूँ और बड़े ताज्जुब से भर जाता हूँ कि एक ही कहानी अगर वह सचमुच जी लगाकर सुनी-सुनाई गई हो, तो कितने लोगों के लिए कितने भिन्न आशय खोल सकती है। बचपन में सुनी कहानियों की शायद यही ताकत भी है। हमारी माँएँ शायद इसी तरह सदियों से बुराई पर अच्छाई की विजय का मंत्र हमें पिलाती रही हैं! भले ही इसका महत्व बहुत 'अंग्रेजी' पढ़े समाजविज्ञानियों को अभी ठीक-ठीक समझ में न आया हो!

और मेरे लिए तो यह अतिरिक्त सुख की तरह है कि माँ अपनी सुनाई कहानियों में छिपी हुई हैं। जब चाहा, वहाँ जाकर उन्हें देख और सुन लिया।...

माँ की सुनाई कहानियों में दो-एक कहानियाँ ऐसी भी थीं जिनके जरिए माँ शायद अपने माँ होने या स्त्री होने की तकलीफ को हमारे साथ बाँटना चाहती थीं या कहिए कि एक किस्म का पाठ पढ़ाना चाहती थीं। इनमें एक कहानी में बेटा जो अब अच्छा कमाने-धमाने लगा है, बड़ा होने पर माँ के त्याग का मोल चुकाना चाहता है। वह बार-बार पूछता है, 'बोल न माँ, मैं तेरे लिए क्या लाऊँ?' माँ चुप रहती है। बहुत पूछने पर हँसकर कह देती है, 'रहने दे बेटा, क्यों तकलीफ झेलता है?' बेटे के बहुत जिद करने पर माँ आखिरकार कहती है कि अच्छा बेटा, समय आने पर कहूँगी। उसी रात को बेटा सोया तो माँ ने उसकी खाट पर लोटे से जरा-सा पानी डाल दिया। लड़का हड़बड़ाकर उठा। पूछा, 'माँ...माँ, यह क्या?' माँ बोली, 'पता नहीं बेटा, मुझसे कैसे गिर गया। खैर, तू परेशान न हो, सो जा!'

लड़के को नींद आई ही थी कि माँ ने फिर पानी गिरा दिया। अब तो वह बुरी तरह खीज उठा। चिल्लाकर बोला, 'माँ, आज तू मुझे सोने देगी कि नहीं?' इस पर माँ ने बड़े ममतालु स्वर में कहा, 'चैन से सो बेटे, पर एक बात याद रख। जब तू छोटा था तो रात में न जाने कितनी बार तू पेशाब करता था। पर मैं तुझे सूखे में सुलाती थी, खुद गीले में सो जाती थी। कभी गुस्सा नहीं आता था। पर तू तो बेटा, दो बार में ही परेशान हो गया। तो भला माँ का ऋण तू कैसे उतारेगा?'

कहानी सुनते हुए उस बेटे पर बड़ा गुस्सा आया था जो जरा सी देर में माँ पर झल्ला पड़ा था। मैंने सोचा, मैं तो ऐसा बेटा नहीं बनूँगा। पर क्या मैं सचमुच एक अच्छा बेटा बन सका? आज

सोचता हूँ तो अपने ऊपर शर्म आती है।

माँ की कई कहानियों में अद्‌भुत फैंटेसी भी थी। मसलन माँ की एक कहानी हजारों साल पहले की उस आश्चर्यजनक 'अदिम' दुनिया की कहानी थी जिसमें लोग अपने सिर को हँड़िया की तरह उतारकर गोद में रख लेते थे ओर जूएँ बीनते थे। खासकर स्त्रियों को चैन से जूएँ बीनने का अवसर मिल जाता था। धूप में बैठे-बैठे मजे में जूँएँ बीनते रहो। लेकिन फिर एक गड़बड़झाला हो गया। सचमुच अजीब गड़बड़झाला! हुआ यह कि एक स्त्री ऐसा करते हुए, घरेलू व्यस्तताओं में अपने सिर को कहीं इधर-उधर रखकर भूल गई और दूसरे कामों में लग गई। पीछे से बंदर आया और उसके सिर को उठा ले गया। अब वह स्त्री यहाँ-वहाँ अपना सिर ढूँढ़ रही है, मगर सिर है कि मिल ही नहीं रहा। फिर पता चला कि सिर तो सामने पेड़ पर बैठे हुए बंदर के पास है जो बहुत मिन्नतें करने के बाद बमुश्किल उसे देने को राजी हुआ। उस दिन के बाद से भगवान ने अपनी सृष्टि में तब्दीली की और तब से सबके सिर पक्के जुड़े होने लगे।...माँ की भोली दुनिया का एक भोला सच!

अलबत्ता यह हँड़िया की तरह सिर को गोदी में रखकर जूएँ बीनने की कल्पना ऐसी मजेदार थी कि हँसते-हँसते हम लोटपोट हो जाते। और आज भी जब इस कल्पना के बारे में सोचता हूँ, तो हँसी आए बगैर नहीं रहती।

इसी तरह एक मजेदार कहानी थी 'गिठमुठिए' की। कल्पना का एक और अश्चर्यलोक! क्योंकि यह कहानी भी एक अद्‌भुत दुनिया में रहने वाले अद्‌भुत प्राणियों की थी। गिठमुठिए माने ऐसे लोग जो खड़े हों तो एक 'गिठ' यानी बालिस्त भर के हों ओर बैठें तो एक मुठी भर के! ऐसे लोग पाताल से निकलकर धरती पर आते थे और फिर क्या-क्या न हो जाता था! मगर एक बात तय थी कि ये कोई बुरे लोग न थे। भले प्राणी थे जो मुसीबत में धरती के वासियों की मदद करने आते थे।

बाद में मैंने देशी-विदेशी परीकथाओं में बौनों के बारे में तमाम किस्से-कहानियाँ पढ़ीं। बहुत सी तो ग्रिम बंधुओं की परीकथाओं में भी हैं। बौनों को लेकर लिखी गई ज्यादातर परीकथाएँ बड़ी दिलचस्प है पर उनमें एक भी गिठमुठिए जैसी मजेदार नहीं है। हो सकता है, माँ ने भी यह कहानी बचपन में अपनी माँ से सुनी हो। इस लिहाज से परीकथाओं की भारतीय परंपरा भी एकदम नई तो नहीं है। और उसमें अगर लोककथाओं को भी जोड़ लिया जाए, तब तो यह परंपरा सदियों पुरानी ठहरती है।

ऐसा नहीं कि माँ की कहानियों में यथार्थ न हो, पर यथार्थ की उस अभिव्यक्ति में फैंटेसी घुली-मिली रहती थी। मुझे याद पड़ता है, माँ की एक हैरत अंगेज कहानी 'भूख' को लेकर थी और इसे वे गांधारी से जोड़ती थीं। महाभारत युद्ध में गांधारी के सौ पुत्र मारे गए थे। शोक के मारे उसका बुरा हाल था। गांधारी के बहुत रोने-पीटने के बाद, कृष्ण ने उसे दिलासा देते हुए शोक का परित्याग करने और कुछ खा लेने के लिए कहा। पर गांधारी नहीं मानी। आखिर कृष्ण समझा-बुझाकर चले गए। युद्ध के मैदान में अकेली गांधारी रह गई। आधी रात के समय गांधारी को

जोर से भूख लगी। रोते-रोते उसका ध्यान सामने झाड़ पर लगे एक बेर पर गया। उसने सोचा, 'रोने के लिए अभी रात पड़ी है। एक बेर ही खा लूँ तो थोड़ी जान आए।' सोचकर उसने बेर को पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाया तो बेर ऊँचा हो गया।

जब किसी भी तरह से बेर पकड़ाई में नहीं आया तो गांधारी ने सोचा, 'एक बेटे के शव पर चढ़कर पकड़ूँ तो शायद बेर हाथ में आ जाएगा।' उसे शर्म भी लगी, पर अब तक भूख बहुत तेज लग चुकी थी। फिर उसने सोचा, 'रात का समय है। मुझे भला कौन देखेगा?' तो बेटे के शव को घसीटकर वह बेर के नीचे लाई। उस पर खड़े होकर बेर को पकड़ना चाहा, पर बेर तब तक और ऊपर उठ चुका था। ऐसे ही एक-एक कर गांधारी ने एक के ऊपर एक अपने सौ बेटों के शवों को रखा और बेर को पकड़ने की कोशिश की। बेर तो पकड़ में नहीं आया, पर सामने से कृष्ण आते नजर आ गए। पास आकर बोले, 'गांधारी, यह क्या?' गांधारी शर्मिंदा होकर बोली, 'कृष्ण, तुम ठीक कहते थे। जब तक जीना है, इस भूख से तो जीत पाना मुश्किल है। कोई रोग हो, शोक हो, वह अपनी जगह है, पर भूख तो इस देह का धर्म है। वह रोग-शोक कुछ नहीं देखती!'

यह कहानी मैंने बहुत खोजी, पर महाभारत के किसी नए-पुराने संस्करण में नहीं है। किसी पुराण वगैरह में भी नहीं।...पर यह कहानी माँ के लोकवेद में थी, और लोकवेद की कहानियाँ ऐसी होती हैं कि पढ़कर आप भीतर तक हिल जाएँ!

इसी बात से याद आया, लोकमाता यानी सत्यार्थी जी की पत्नी अपने निराले अंदाज में कहती थीं, 'मौतों भुक्ख बुरी, राती खादी सवेरे फेर खड़ी...!' (भूख तो मृत्यु से भी बुरी है। रात उसे खाया, सुबह वह फिर सामने आकर खड़ी हो गई!) स्त्रियाँ शायद जीवन के रोजमर्रा के इस यथार्थ को कहीं अधिक गहराई से जानती हैं। इसीलिए सत्यार्थी जी जब झुँझलाकर उन्हें टोकते थे कि तुम क्या हर वक्त रोटी और पैसे की चर्चा लेकर बैठ जाती हो तो वे कहती थीं, 'एक दिन भी बगैर खाए गुजारा चलता है क्या? और अगर जेब में बस के लिए किराए के लिए रुपया न हो, तो क्या कोई बस का कंडक्टर आपको बस में भी बैठने देगा? फिर कहाँ से होगी आपकी घुमक्कड़ी, यार-दोस्तों से मिलना, साहित्य के किस्से-कहानियाँ और गपशप...?'

माँ पैसे से बहुत ज्यादा आक्रांत तो न थीं- और धन के मामले में लालची वे हरगिज न थीं, पर इतना तो जरूर जानती थीं कि पैसे और रोटी से बहुत दूर जाकर जिंदगी चल नहीं सकती। वे धार्मिक स्वभाव की थीं। उनका धार्मिक होना उन्हें पैसे के लोभ से बचाता था, पर पैसे से विरक्ति भी वहाँ न थी। कह सकते हैं कि पैसा दान देकर अपने धन को 'सकारथ' कर लेने वाला सहज 'धार्मिकपना' उनमें था। यानी पैसा सही रीति से कमाओ और कमाने के बाद उसका एक हिस्सा उन्हें जरूर दो, जो सच्चे धार्मिक गुरु, साधु-संन्यासी या फिर जरूरतमंद लोग हैं। यह था पैसे को लेकर माँ के हिस्से का सच, जिसे लेकर उनके मन में कोई दुविधा अंत तक नहीं थी। पैसे की हाय-हाय या उसके लिए बावला होने की यहाँ दरकार न थी। बल्कि ऐसा लोभ या उतावलापन यहाँ बुरी चीज थी।

याद पड़ता है, जगन भाई साहब जो इंजीनियर हैं और शिकोहाबाद में हिंद लैंप्स बल्ब फैक्टरी में डिप्टी जनरल मैनेजर थे, उनकी शुरुआती दौर में ही एर्नाकुलम में किसी बड़ी कंपनी में

ऊँचे पद पर नियुक्ति हो गई थी। सब कुछ तय था। बस, उस प्रस्ताव को मंजूर करने के बाद सामान बाँधा जाना और प्रस्थान करना था। उन्होंने शायद रेलवे रिजर्वेशन भी करा लिया था। पर माँ बेचैन थीं। उन्होंने जगन भाईसाहब से पूछा, 'यहाँ तुम्हें किस तरह की परेशानी है, जिसके लिए घर से इतनी दूर जाना तुम्हें जरूरी लग रहा है?' भाईसाहब के पास इस सवाल का जवाब नहीं था। और वहाँ तनखा ज्यादा मिलेगी या फलाँ-ढिकाँ मिलेगा, यह माँ के निकट इतना निरर्थक था कि उन्हें समझाया ही नहीं जा सकता था। यहाँ उनका एक ही सिद्धांत था कि कमाओ, लेकिन संतोष भी रखना सीखो। बहुत पैसा आ जाएगा, तो क्या हो जाएगा?

आज के वक्त में माँ की बात शायद उतनी प्रासंगिक न रही हो, या वैसा न समझा जाए। उनके पोते-पोतियाँ और नाती-धोवते आज दूर देशों में हैं। पर माँ ने हमेशा यही चाहा कि पास रहो, एक-दूसरे के साथ सुख-दुख बाँटो और अनावश्यक लालसाएँ छोड़ दो। संतोष भरा जीवन जियो।

मैं कह नहीं सकता कि माँ की बातें आज की बदली हुई दुनिया में कितनी सही हैं, कितनी नहीं। पर मैं इतना जरूर कहूँगा कि माँ एकदम गलत भी नहीं थीं। आज बहुतेरे लोगों की पूरी जिंदगी एक अंधी भागदौड़ और हाय-हाय में बीतती है। उससे सचमुच हासिल क्या होता है? घर वीरान हो रहे हैं और वहाँ की चहकन खत्म हो रही है। खाली-खाली घर और उनमें रह रहे दो-एक अशक्त जन। पूरे घर में बजता सन्नाटा, इसलिए कि जिनमें जिंदगी और जिंदादिली है, वे तो परदेस कूच कर गए। बहुत-बहुत धन्यवाद मोबाइल, इंटरनेट और वेब कैमरे को, जिसने थोड़ा-बहुत ही सही, पर घर के अहसास को बचाया हुआ है। हालाँकि कभी-कभी मैं सोचता हूँ, आदमी को जिंदगी जीने के लिए आखिर कितना चाहिए? और फिर जो कुछ हासिल करने के लिए हम बाहर जाते हैं, उसके बदले खोते कितना हैं- इसका भी क्या कोई हिसाब लगाया जा सकता है?

मुझे याद पड़ता है, एक बार पूर्व और पश्चिम के जीने और सोच-विचार के ढंग की भिन्नताओं की चर्चा करते हुए, स्वामी विवेकानंद एक बड़े फर्क की ओर भगिनी निवेदिता का ध्यान खींचा था। उन्होंने कहा था, 'सनातनियों का सारा आदर्श समर्पण है, तुम्हारा (पाश्चात्य) आदर्श संघर्ष है। फलतः हम लोग जीवन का आनंद ले सकते हैं, तुम लोग कदापि नहीं। तुम हमेशा अपनी दशा को और अच्छे में परिवर्तित करने के लिए सचेष्ट रहते हो, और उसके करोड़वें अंश मात्र का परिवर्तन संपन्न होने से पहले ही मर जाते हो।...'

आज जबकि पश्चिमी ढंग का रहन-सहन ही हम पर तारी हो गया है, तब माँ को और उनके समय को याद करना कहीं न कहीं हिंदुस्तानियत की जड़ों की तलाश भी लगता है मुझे। और यह समझ में आता है कि कितना कुछ हमने खो दिया है, और जो कुछ खोया, वह कितना मूल्यवान था।7

हाँ, याद आया कि माँ जिनकी उँगली पकड़कर मैंने दुनिया देखी, वे अनपढ़ थीं, पर वे गीता पढ़ लेती थीं। गुरुमुखी लिपि में लिखी हुई गीता, जिसकी भाषा पंजाबी नहीं, हिंदी थी। शायद नाना जी ने प्रयत्न करके उन्हें गीता पढ़ना सिखा दिया था। मोटे-मोटे अक्षरों में लिखी हुई गीता माँ उँगली रख-रखकर पढ़ती थीं थोड़े ऊँचे सुर में, 'तब कृष्ण ने कहा, हे अर्जुन, मेरी बात ध्यान

लगाकर सुन।' कुछ-कुछ उसी तरह, जैसे कच्ची या पहली जमात के बच्चे स्वर को खींच-खींचकर अपना पाठ पढ़ते हैं। पर इससे उनके बोलने में एक अजब लय और आकर्षण पैदा हो जाता था। बचपन में मैंने माँ को अकसर इसी तरह सुबह-सुबह गीता पाठ करते देखा। बाद में या तो वह गीता की प्रति जीर्ण हो गई या कोई और वजह रही होगी, जिससे माँ का गीता-पाठ कम हो गया। लेकिन उनका धार्मिक भाव तो जरा भी कम नहीं हुआ। और वे व्रत पर व्रत इतने रखती थीं कि किसी-किसी हफ्ते तो मैंने उन्हें सात में से चार-चार, पाँच-पाँच दिन व्रत रखते देखा! कुछ तो नियमित रखे जाने वाले व्रत थे और कुछ बीच-बीच में आने वाले विशेष व्रत। उन्हें शायद यही संस्कार मिला था कि स्त्री को परिवार की हित-कामना के लिए खुद को गला देना चाहिए। व्रत केवल व्रत नहीं था, उनकी तपस्या थी। और माँ ही नहीं, उस पीढ़ी की ज्यादातर स्त्रियों की शायद यही जीवन आस्था थी। उन्हें लगता था, अपने परिवार के हित के लिए वे शायद इसी तरह खुद को होम कर सकती हैं। और यही ईश्वर को भी प्रसन्न रखने का साधन था उनके हाथ में, जिससे दुनिया में संतोष और सुख-शांति रहे।

यहीं बचपन के उन तिथि-त्योहारों की बात की जा सकती है जिनमें माँ को नित नए रूपों में देखने का अवसर मिलता था। इनमें एक 'नवान्न' का पर्व था, जिसमें नए अन्न की रोटी या शायद पराँठा बनता था। उसमें घी डालकर चूरी बना ली जाती। अब माँ आसपास सब बेटों को बिठा लेती थी। हाथ में चूरी का एक ग्रास लिए, एक-एक कर हम सब भाइयों से पूछती थी, 'चंदर, मैं नवाँ अन्न चखाँ?...श्याम, मैं नवाँ अन्न चखाँ?...जगन, मैं नवाँ अन्न चखाँ?...सतपाल, मैं नवाँ अन्न चखाँ?'

हम लोग 'हाँ' कहते, पर कभी-कभी माँ को तंग करने के लिए 'न' भी बोल देते थे। तो फिर माँ को फिर से यही सब सिलसिला शुरू करना पड़ता ओर यों माँ उस चूरी का एक-एक ग्रास खातीं और माँ के खाने के बाद फिर हमें भी वही सब मिलता। मगर इस पर्व की खासियत यह थी कि माँ भी हमारे साथ एकदम बच्ची बन जाती थीं और हम कितना भी तंग करें, उनके चेहरे पर जरा भी शिकन नहीं आती थी। हम हँसते थे और माँ भी हमारे साथ बिल्कुल बच्ची बनकर हँसती रहती थीं। जैसे यह भी खो-खो जैसा कोई खेल हो।

इस उत्सव के पीछे की भावना क्या रही होगी? लगता है, यह कृषि व्यवस्था का पर्व है। घर में नया अन्न आया है। उसे अच्छी तरह धोकर, सुखाकर खाने के लिए तैयार कर लिया गया है। उसकी रोटियाँ बनकर सामने पड़ी हैं। पर नया अन्न है, तो पता नहीं कि वह कैसा हो? उसमें तनिक विषैलापन या कोई और नुकसानदायक वस्तु भी हो सकती है, जिसका हमारे स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता हो। इसलिए वह नया अन्न घर में आए और उसकी रोटियाँ पकें तो पहले बच्चे न खाएँ। घर के बड़ों को पहले उसे चखकर देखना चाहिए कि यह निरापद है कि नहीं। और अगर उसके खाने पर कोई नुकसान नहीं होता तो फिर घर के बाकी लोग भी खाएँ। माँ बड़ी थीं, घर और रसोई की रानी थीं, इसलिए नवान्न की शुरुआत वे खुद से करती थीं। और खाने से पहले वे हम सबको सतर्क भी करती थीं, 'चंदर, मैं नवाँ अन्न चखाँ?... श्याम, मैं नवाँ अन्न चखाँ?...जगन, मैं नवाँ अन्न

चखाँ?...सतपाल, मैं नवाँ अन्न चखाँ?' ताकि अगर उन्हें कोई नुकसान भी होता है तो घर के सदस्य इससे वाकिफ रहें और समय पर उपचार करके उन्हें बचाया जा सके।

पर यह तो आज सोचता हूँ। उस समय तो नवान्न हम सब भाइयों के लिए एक मजेदार खेल ही था, और माँ हमारे साथ यह खेल खेलती हुई सचमुच बड़ी मोहक लगती थीं।

इसी तरह नवरात्रों के समय माँ का उत्साह देखते ही बनता था। माँ 'खेतरी' (घर के आले में जौ बोना, प्रतीकात्मक खेती) बड़े शौक से बीजती थीं। उसके लिए श्याम भैया खासकर खेतों से मिटी लाते थे। माँ ने खेतरी बोने के लिए एक अलग आला बनवा रखा था। जौ बोए जाते थे और जिस बरस माँ की यह छोटी सी खेती खूब जोरों से लहलहाती, माँ की खुशी और उमंग का क्या ठिकाना! सुबह कथा होती, आरती होती। उसमें माँ देवी माँ की बहुत सी आरतियाँ और भजन गातीं। पर मुझे उनमें एक ही पसंद था जिसमें माँ के साथ-साथ दोहराना मुझे अच्छा लगता, ह्नीं मैया, तेरा काँगड़ा घर चंगा...!'

इस आरती में आगे एक पंक्ति आती थी जो मुझे बड़ी पसंद थी, 'नंगी-नंगी पैरीं राजा अकबर वी आया, सोने दा छतर चढ़ंदा...!' (नंगे पैरों राजा अकबर भी यहाँ आया और उसने सोने का छत्र चढ़ाया। अरी माँ, तेरा काँगड़ा वाला घर बड़ा अच्छा है!) इस आरती की हर पंक्ति के तुकांत को मैं इतना रस लेकर और इतने मजे में, बल्कि कहना चाहिए, थोड़े शरारती अंदाज में दोहराता कि गाते-गाते माँ की हँसी छूट जाती और संग-संग मैं भी जोरों से हँस पड़ता। यानी भक्ति में भी थोड़ा खिलंदड़ापन आ जाता और उसकी गंभीरता थोड़ी कम हो जाती। पर मेरी उदार विचारों की माँ को इसमें कोई आपत्ति न थी।

इसी तरह होई या अहोई भी माँ का प्रिय त्योहार था। मेरा खयाल है, उत्तर प्रदेश में इसे अहोई माता का त्योहार कहते हैं और पंजाब में होई का। और यह संतानों की कल्याण कामना का त्योहार है! बहरहाल उस दिन भी गुड़ का शीरा और डोइयाँ बनतीं। हम बच्चे कुंडा खड़काते हुए जोर-जोर से चिल्लाते, 'होई...होई...होई, लै आपणा दुद्ध-पुत्तर, दे मेरी डोई...!' फिर माँ के पुकारने पर हम दौड़कर जाते और वहाँ गुड़ के शीरे में डूबी डोइयाँ खाने के बाद, लौटकर फिर चिल्लाना शुरू कर देते, ह्होई...होई...होई, लै आपणा दुद्ध-पुत्तर, दे मेरी डोई...!'

दुद्ध-पुत्तर क्या है, यह भला कौन जानता था? हाँ, गुड़ में डूबी आटे की डोइयाँ घर भर में- और साथ ही हमारे दिलों में भी आनंद और उल्लास भर देतीं। खेल में लीन हम बच्चे तब शायद इन चीजों को ज्यादा नहीं महसूस कर पाते थे। पर बच्चों के इस खेल के साथ ही घर भर में कैसा आनंद लहलहा उठता है, इसे वे स्त्रियाँ खूब अच्छी तरह समझती थीं और उनके खुशी से दमकते चेहरों पर महसूस किया जा सकता था। और करवा चौथ का तो नजारा ही कुछ और था। सुबह-सुबह बड़े अँधेरे ही खासी चहल-पहल से हम बच्चों की नींद खुलती। उठकर देखते तो साथ वाले कमरे में बढ़िया-बढ़िया पकवानों से सजी थालियाँ लिए भाभियाँ। खूब हँसती, बातें करती और साथ-साथ थोड़ा-बहुत खाती हुई। उनके बीच माँ, मानो किसी राजमहिषी के-से गौरव से भरी हुई नजर आतीं। मैं अचानक वहाँ पहुँचकर मजाक करते हुए कहता, 'अच्छा, तो

चोरी-चोरी खाया जा रहा है!' इस पर भाभियों सहित माँ खूब जोरों से हँसतीं। और कहतीं, 'अच्छा चल, तू भी खा ले...!'

शाम को करवाचौथ व्रत की कथा होती तो आस-पड़ोस की स्त्रियाँ सज-धजकर हमारे घर आतीं और माँ की कथा शुरू होती। उस कथा की कोई और बात तो मुझे याद नहीं। बस, एक लाइन जरूर याद है, जो मुझे तब अपनी विचित्र ध्वन्यात्मकता के कारण बहुत आकर्षित करती थी कि 'जेहड़ी राणी हाई, ओह गोली हो गई ते जेहड़ी गोली हाई, ओह राणी हो गई...!' (यानी जो रानी थी, वह दासी बन गई और जो दासी थी, वह रानी बन बैठी!) इन शब्दों में पता नहीं ध्वन्यात्मकता का कैसा जादू है कि आज भी इन्हें दोहराते ही मानो माँ और घेरे में बैठी स्त्रियों का पूरा 'कथा-संसार' भीतर-बाहर से मेरे आगे खुल पड़ता है।

कुछ और भी छोटे-मोटे व्रत-त्योहार थे। इनमें एक ठेठ देशी किस्म का त्योहार बासी खाने का भी था जिसे 'बेवड़े' या ऐसा ही कुछ कहा जाता था। मेरा खयाल है, उसी को कहीं-कहीं 'बासड़े' भी कहते है और यह होली के कुछ ही रोज बाद आता है। और अगर मैं गलत नहीं हूँ तो इसी को कहीं-कहीं शीतला माता के व्रत या त्योहार के रूप में मनाया जाता है। जिस दिन त्योहार होता, उससे एक रात पहले आलू के ढेर सारे पराँठे बनाकर रख लिए जाते और अगले दिन हम वही खाते। उस दिन चूल्हा सुलगाने और गरम खाने की मनाही थी। क्यों भला? यानी इसके पीछे असली बात या विश्वास क्या था? इसे मैं आज तक नहीं जान पाया। हालाँकि एक मित्र ने पिछले दिनों बड़े आत्मविश्वास के साथ समझाया, कि 'भाई, बेवड़े पर्व में एक प्रतीकार्थ है कि आज तुम बासी खाना खा लो, पर यह बासी खाना खाने का आखिरी दिन है। इसके बाद बासी खाना बंद। आगे से ऋतु-परिवर्तन के कारण ताजा बनाकर ही खाना चाहिए।' यह व्याख्या सही है या गलत, नहीं कह सकता। मगर इतनी बात तय है कि पुरानी बहुत सी चीजों का प्रतीकात्मक मतलब तो है ही। उनसे नए और पुराने वक्तों की तुलना करने का आनंद भी हमारे हाथ आ जाता है। बात त्योहारों की चल रही थी। उसी सिलसिले में याद आया, शुरू में शिवरात्रि भी हमारे परिवार में खूब जोर-शोर से मनाई जाती थी। शाम के समय आँगन में उपलों की आग सुलगाई जाती। उसके चारों ओर पानी छिड़कते हुए हम लोग परिक्रमा करते। माँ उस आँच पर मोटे-मोटे 'रोट' सेकतीं। नमकीन भी, मीठे भी। और वे कई दिनों तक मीठी और नमकीन लस्सी के साथ खाए जाते। मुझे याद है, मीठी लस्सी के साथ नमकीन रोट और नमकीन लस्सी के साथ मीठे रोट खाना मुझे बहुत अच्छा लगता था।

यहीं यह दर्ज करना भी शायद अप्रासंगिक नहीं कि माँ शिवभक्त थीं और उन्होंने ही मेरा नाम शिवचंद्र प्रकाश रखा था। हालाँकि इतना लंबा नाम चला नहीं और स्कूल में दाखिले के समय हैड मास्टर साहब ने खुद-ब-खुद छोटा करके उसे चंद्रप्रकाश बना दिया। पर यह बात मन में पुलक भरती है कि इस नाम में माँ की छुअन है और मेरे नाम में जुड़ा चंद्र असल में शिव के मस्तक में जड़ा चंद्रमा है। त्योहार के दिन माँ की बनाई चीजों और खाने में पता नहीं कैसे, अनोखा रस आ जाता। यों माँ कोई असाधारण पाक-कलाशास्त्री न थीं, पर उनकी बनाई चीजों में बड़ा रस होता था। माँ के बनाए खाने की बात करें तो माँ आलू और मूली के पराँठे खूब अच्छे बनाती थीं। मक्के और बाजरे की खूब घी से तर रोटी तो शायद वैसी कोई बना ही सकता। उसे हम लोग रोटी नहीं, 'ढोढा'

कहा करते थे। यानी मक्के का ढोढा, बाजरे का ढोढा...वगैरह-वगैरह। सर्दी के दिनों में ऐसी चीजें हमारे लिए किसी अनमोल नेमत से कम न थीं और इनके आगे पाँच तारा होटल तो छोड़िए, स्वर्ग के पकवान भी हम छोड़ सकते थे। और सर्दियों में माँ के हाथ की बनाई गुड़ और आटे की पिन्नियों के लिए तो आज भी तरसता हूँ। दुनिया की अच्छी से अच्छी मिठाई से वे मुझे ज्यादा स्वाद भरी लगती थीं।

माँ ने याद नहीं पड़ता कि कभी पीटा हो। बल्कि पीटना तो दूर, याद नहीं पड़ता कि माँ ने कभी हलके से भी डाँटा हो। माँ को न जाने कैसा यह अजब-सा विश्वास था अपनी संतानों को लेकर कि मेरे बेटे या बेटियाँ गलत नहीं हो सकते! या वे कभी कुछ गलत कर ही नहीं सकते।...

एक छोटी सी घटना याद आ रही है- और वह होली के मौके की है। हुआ यह कि होली को मुश्किल से एक-दो दिन बाकी थे। हम सब बच्चे अपनी-अपनी पिचकारियाँ लिए मोरचों पर डटे थे। हमारे घर के सामने खुला मैदान है, जिसके चारों सिरों से चार गलियाँ निकलती हैं। यानी कोई कहीं से भी इनमें से निकलकर आ सकता था या जा सकता था। और हमारी चौकन्नी निगाहें इन चारों छोरों पर थीं। इतने में एक सज्जन ड्राईक्लीन किए हुए बढ़िया कोट-पैंट, टाई पहने हुए निकले। रोब-रुतबे और घमंड की साकार मूर्ति! अब उन पर कौन रंग डाले? सभी बच्चे डर रहे थे तो मैंने बीड़ा उठाया। मैं उस छोटे से बालदल का नायक जो ठहरा! मैं चुपके-चुपके उनके पीछे गया और फिर एकाएक अपनी पिचकारी से उन्हें छींटमछींट कर दिया। पता लगा तो वे कोट-पेंटधारी महाशय गुस्से में फनफनाते हुए मेरे पीछे दौड़े। मैं तब छोटा सा था। दुबला-पतला और एकदम चुस्त। लिहाजा एकाएक उछलकर घर के अंदर! अब मैं सुरक्षित घेरे में था। वे सज्जन भी तेजी से घर में आना चाहते थे कि हमारे चबूतरे पर धड़ाम से गिरे।...चबूतरे पर काफी गीला रंग बिखरा हुआ था। लिहाजा जितना हमने लगाया, उससे ज्यादा रंग खुद-ब-खुद लग गया। अब तो उनका गुस्सा और भी बुलंद। अंदर आकर उन्होंने शिकायत की। माँ ने कहा, 'मैं डाँटूँगी इन्हें, पर ये तो छोटे बच्चे हैं। बेटा, तू बता, तूने कौन-सी समझदारी की कि होली से एक दिन पहले यह सूट पहनकर चला आया?... तू तो इनसे भी गया-बीता है!' सुनकर उनका पारा उतरा, शर्मिंदा हुए। बाद में माँ ने हमें समझाया कि ऐसा नहीं करते। पर दूसरों के आगे अपने बच्चों को किसी शेरनी की तरह वे बचाती थीं! और धीमे से सीख भी देती जातीं कि देखो, मुझे तुम्हारी वजह से कहीं नीचा न देखना पड़े!

अलबत्ता माँ का यह विश्वास जाने-अनजाने हमें बहुत ताकत, बहुत बल देता था और आज भी देता है। लगता था कि माँ का चाहे हम पर यह भोला विश्वास ही है, पर हमें इस विश्वास को झूठा नहीं होने देना, खुद को भटकने नहीं देना।

प्रकाश मनु, 545 सेक्टर–29, फरीदाबाद (हरियाणा) – 121008
मो. : 9810602327, ई–मेल : prakashmanu333@gmail.com

✧ ✧ ✧

रासो काव्य में वर्णित कथानक रूढ़ियाँ

डॉ. रंजना जायसवाल

रूढ़ियाँ कभी किसी निश्चित क्षण में जन्म नहीं लेती वे काल की अजस्र धारा में बहते-बहते रूढ़ियाँ बन जाती है। रूढ़ियाँ किसी साहित्य के लिए कितनी अनिवार्य होती है, इसका अनुमान ब्रायन इलियट के इस कथन से लगाया जा सकता है '' वह प्रत्येक राष्ट्र जो आत्म सम्प्रेषण कर सकता है, जिसके पास अपने आप से कहने के लिए कुछ होता है उसके लिए किसी न किसी पौराणिक पृष्ठभूमि का होना अनिवार्य है अन्यथा उस राष्ट्र का अपने उपयोग के लिए पुराणों का सृजन करना ही होगा।

जीवन में वर्तमान हमेशा से महत्वपूर्ण रहा है, किंतु इसका तात्पर्य यह बिल्कुल नहीं है कि अतीत महत्वहीन होता है, वरन अतीत से वर्तमान सम्पोषित होता है। अतीत के मजबूत आधाार पर ही वर्तमान की संरचना होती है।वर्तमान यदि एक वृक्ष की शाखायें हैं तो अतीत उसकी मजबूत जड़ें। किसी भी सभ्यता के विकास में उस सभ्यता के साहित्य का बहुत अधिक महत्व होता है। साहित्य हमारी कौतूहल और जिज्ञासा वृत्तियों और ज्ञान की पिपासा को तृप्त करता है और क्षुधापूर्ति करता है।

जहाँ साहित्यिक परम्पराये, रूढ़ियाँ अतीत की ओर रेखांकित करती है, वही वर्तमान समाज या साहित्य की परंपराओं और रुढ़ियों का एक नवीन रूप से अन्वेषण करते हुए इन्हें आत्मसात करता है। साहित्य से ही किसी राष्ट्र का इतिहास, गरिमा, संस्कृति और सभ्यता वहाँ के पूर्वजों के विचारों एवं अनुसंधानों, प्राचीन रीति-रिवाजों रहन-सहन तथा परंपराओं आदि की जानकारी प्राप्त होती है। सही मायनों में... साहित्य समाज का दर्पण होती है।

जिस प्रकार पर्वत श्रृंखला से निकली जल की अनंत धाराएं अनेक क्षेत्रों से बहती हुई सागर में जाकर समाहित हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार रासो उस सागर के समान है जिसमें अनन्त धाराएं निष्पक्ष समाहित हो जाती हैं किंतु अपने समस्त रूप में वह साहित्य की एक

विशिष्ट धारा है जो अपनी विशेषताओं एवं उपलब्धियों के कारण साहित्य के अन्य रूपों से प्रभावित होते हुए भी अन्य रूपों से बिल्कुल अलग है। रासो शब्द वास्तव में मूलत: संस्कृत के रास धातु से उत्पन्न एक शब्द है जिसका अर्थ है चिल्लाना, सामान्य ध्वनि, भाषण, एक प्रकार का नृत्य विशेष, गोल घेरा आदि। यह रास शब्द अपने में अनेक विस्मय छुपाए हुए हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रासो शब्द की उत्पत्ति ''रसायण'' शब्द से मानी है।

हमारे देश के साहित्य में कथानक में रोचकता उत्पन्न करने तथा गति प्रदान करने तथा घुमाओ देने के लिए प्राय: कुछ ऐसे अभिप्रायओं का प्रयोग दीर्घकाल से होता आया है जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ प्रतीत होते थे और आगे चलकर कथानक रुढ़ियों के रूप में जाने और पहचाने जाने लगे। कथानक रुढ़ियों शब्द का हिंदी साहित्य में सर्वप्रथम प्रयोग डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी साहित्य का आदिकाल में किया था। कथानक रुढ़ियों को मोटे तौर पर दो भागों में बांटा जा सकता है--

1. लोक विश्वास पर आधारित कथानक रूढ़ियाँ
2. कवि कल्पित कथानक रूढ़ियाँ

हिंदी साहित्य में विभिन्न तरह के रासों का वर्णन है जिसमें मुख्य रुप से पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, परमाल रासो, संदेश रासक, चंदन बाला रास, कलावती रास आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सभी रासों में कथानक को रोचक और अविस्मरणीय बनाने के लिए विभिन्न तरह के कथानक रूढ़ियों का प्रयोग किया गया है। जैसे- लिंग परिवर्तन, कबंध युद्ध, सांकेतिक भाषा, फलादि द्वारा संतानोत्पत्ति, पूर्व जन्म की स्मृति, मुनि का शाप, अति प्राकृत दृश्य से लक्ष्मी प्राप्ति का शकुन, प्रतीकात्मक स्वप्न, स्वप्न में अलौकिक व्यक्तियों द्वारा भविष्य की सूचना, भविष्य सूचक स्वप्न, आकाशवाणी, राजा का दैवी चुनाव, मृत व्यक्ति का जीवित होना इत्यादि।

रूढ़ियाँ कभी किसी निश्चित क्षण में जन्म नहीं लेती वे काल की अजस्र धारा में बहते-बहते रूढ़ियाँ बन जाती है। रूढ़ियाँ किसी साहित्य के लिए कितनी अनिवार्य होती है, इसका अनुमान ब्रायन इलियट के इस कथन से लगाया जा सकता है ''वह प्रत्येक राष्ट्र जो आत्म सम्प्रेषण कर सकता है, जिसके पास अपने आप से कहने के लिए कुछ होता है उसके लिए किसी न किसी पौराणिक पृष्ठभूमि का होना अनिवार्य है अन्यथा उस राष्ट्र को अपने उपयोग के लिए पुराणों का सृजन करना ही होगा, क्योंकि पुराण ही किसी देश के इतिहास वहाँ के व्यक्ति और वहाँ के

जनमानस की सम्भावनाओं को प्रस्तुत करने में समर्थ है।''

भारतीय साहित्य की कथानक रूढ़ियों पर काम करने वाले विद्वानों में ''मॉरिस ब्लूमफील्ड'' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में- ''भारतीय साहित्य की कथानक रुढ़ियों के विषय में ब्लूमफील्ड ने अमेरिकन ओरिएंटल सोसायटी के जनरल की छत्तीसवी, चालीसवीं और इकतालिसवी जिल्दों में कई लेख लिखे हैं। ब्लूमफील्ड तो हिन्दू कथा अभिप्रायों का विश्वकोश (इनसाइक्लोपीडिया ऑफ हिन्दू फिक्शन मोटिव्स) तैयार करने पर भी विचार कर रहे थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं और अपने शिष्यों से भी कई लेख लिखवाये। आपके विचार से,'' भारतीय कथा साहित्य के सम्यक और सुव्यवस्थित अध्ययन के लिए ऐसे अभिप्रायों का अध्ययन और विवेचन जो भारतीय कहानियों में दीर्घकाल से व्यवहृत होते चले आ रहे हैं अत्यंत आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से उन्होंने अपने प्रस्तावित विश्वकोश के लिए पहले विभिन्न कहानियों में पाये जाने वाले प्रचलित और रूढ़ अभिप्रायों की विवेचना, उनके साहित्यिक महत्व, मूल स्रोत तथा इतिहास आदि के सम्बंध में अनेक लेख लिखे और लिखवाये।

हिंदी साहित्य में विभिन्न तरह के रासों का वर्णन है जिसमें मुख्य रुप से पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, परमाल रासो, संदेश रासक, चंदन बाला रास, कलावती रास आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सभी रासों में कथानक को रोचक और अविस्मरणीय बनाने के लिए विभिन्न तरह के कथानक रूढ़ियों का प्रयोग किया गया है। जैसे- लिंग परिवर्तन, कबंध युद्ध, सांकेतिक भाषा, फलादि द्वारा संतानोत्पत्ति, पूर्व जन्म की स्मृति, मुनि का शाप, अति प्राकृत दृश्य से लक्ष्मी प्राप्ति का शकुन, प्रतीकात्मक स्वप्न, स्वप्न में अलौकिक व्यक्तियों द्वारा भविष्य की सूचना, भविष्य सूचक स्वप्न, आकाशवाणी, राजा का दैवी चुनाव, मृत व्यक्ति का जीवित होना इत्यादि।

रासो काव्य में कथा की गति को बढ़ाने एवं उसे निश्चित दिशा में मोड़ने के लिए कथानक रूढ़ियों का प्रयोग किया जाता है जो कथा की रोचकता को बढ़ाने में काफी सीमा तक सफल होता है। कथानक रूढ़ियों ने ना केवल रासो काव्य को ऊंचाइयों के शिखर पर पहुँचाया बल्कि उसने परवर्ती काव्यों को भी काफी प्रभावित किया। इन कथानक रूढ़ियों से जहाँ हम अपनी परंपराओं और रुढ़ियों से परिचित होते हैं वही किसी ना किसी रूप में हम अपने अतीत से भी जुड़ जाते हैं।

डॉ. रंजना जायसवाल, एम.ए., पी.एच.डी. (हिन्दी साहित्य)
लाल बाग, छोटी बसही, मिर्जापुर, उत्तर प्रदेश

✧ ✧ ✧

आलोचना की भाषा

डॉ. सतीश कुमार पडोलकर

रचना और आलोचना की भाषा में वर्णनात्मकता प्रधान रुप से पायी जाती है। वर्णनात्मक भाषा ही आलोचना की भाषा का महत्वपूर्ण गुण है। यह प्रवृत्ति रचना और आलोचना की भाषा में प्रमुखता से दिखायी देती है। दर्शनशास्त्र के प्रसिद्ध विचारक डॉ. सुरेंद्र बारलिंगे इसकी ओर संकेत करते हुए लिखते हैं, ''जब हम किसी कृति की आलोचना करते हैं तो उस आलोचना में साहित्य कृति का जो वर्णन आता है वह साहित्य कृति को समझने के लिए उपयुक्त होता है।

हिंदी आलोचना का बीजारोपण भारतेंदु युगीन आलोचना से हुआ है। खडीबोली भाषा के विकास के साथ अनेक साहित्यिक विधाओं का निर्माण हुआ। उसी युग में कई साहित्यिक विधाओं का नवीनीकरण भी हुआ इस नवीनीकरण एवं पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति के कारण रचना और आलोचना के बुनिवादी भाषिक स्तर का भी काफी परिवर्तन हुआ। रचना के स्तर पर ब्रजभाषा एवं स्थानिक बोलियों का स्थान खडीबोली हिंदी ने लिया और आलोचना की भाषा से संस्कृत पदावलियों एवं स्थूल साहित्यशास्त्रीय शब्दावली का स्थान गद्यभाषा ने ले लिया। गद्य भाषा ही वस्तुतः आलोचनात्मक अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। गद्यभाषा ही बौद्धिक चिंतन प्रक्रिया की एकमात्र शक्तिमती भाषा है। साहित्य की अन्य विधाओं के साथ जैसे - काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी और जीवनी आदि के भाषिक परिवर्तन के साथ-साथ आलोचनात्मक भाषिक शब्दावली में भी परिवर्तन हुआ है। हिंदी साहित्य का विकास विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं विभिन्न साहित्यिक वादों के साथ हुआ है। उसी के समान हिंदी आलोचना का विकास भी विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं वादों के साथ हुआ। प्रत्येक साहित्यिक प्रवृत्ति ने अपनी विषयवस्तु के अनुसार नयी भाषिक शब्दावली की खोज की और इस शब्दावली को विश्लेषित करने हेतु नव आलोचनात्मक शब्दावली का भी विकास हुआ।

हिंदी आलोचना के भाषिक विकास

का विश्लेषण करने से पहले हमें रचना और आलोचना के भाषिक अंत: संबंध एवं आलोचना की भाषिक प्रकृति को स्पष्ट करना लाजिमी है।

रचना और आलोचना की भाषा का अंत: संबंध :-

रचना और आलोचना की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है। भाषा के माध्यम से ही आलोचना रचना की भीतरी परतों को विश्लेषित करती है। रचना और आलोचना की भाषा में बहुत सारी समानताएँ पायी जाती है। रचना और आलोचना की भाषा में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, वैचारिक तथा सांस्कृतिक तत्व अंतर्निहित होते है। भाषा के सांस्कृतिक विरासत वाले पक्ष को उद्‌घाटित करते हुए रेने वेलेक आस्टिन वारेन लिखते हैं, ''भाषा उसी तरह साहित्य का उपकरण है जैसे पत्थर मूर्तिकला का, रंग चित्रकला का, या नाद संगीत का। लेकिन यह बात समझ रखनी होगी कि भाषा पत्थर की तरह जड़ पदार्थ नहीं हैं, बल्कि यह स्वंय मनुष्य की सृष्टि है और इस तरह यह किसी एक भाषा-भाषी समूह की सांस्कृतिक विरासत से अनुप्रणित रहती हैं।'' (साहित्य सिधदान्त, पृ. 27)

आचर्य रामचंद्र शुक्ल भाषा को संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग मानते है। बकौल आचार्य शुक्ल, ''किसी देश के साहित्य का संबंध उस देश की सांस्कृतिक परंपरा से होता है, अत: साहित्य की भाषा उस संस्कृति का त्याग करके नहीं चल सकती।'' (आलोचना के नये मान, पृ. 85)

रचना में अभिव्यक्त मान - मूल्यों को विश्लेषित करना आलोचना का परम दायित्व है। रचना की आलोचना करते समय आलोचना को युगीन परिस्थिति, इतिहास, परंपरा, विचारधारा आदि के परिप्रेक्ष्य में रचना को केंद्र बनाकर निर्णय देना पड़ता है। रचना के अंतर्गत यह तत्व प्रमुख रुप से प्रभावित करने का कार्य करते हैं। इसके प्रभावित करने का महत्वपूर्ण माध्यम भाषा है। भाषा की इसी विशेषता को उद्‌घाटित करते हुए निर्मल वर्मा भाषा को संस्कृति के मर्म एवं अर्थों को संप्रेषित करने का प्रमुख माध्यम मानते हैं। बकौल निर्मल वर्मा, ''भाषा सिर्फ विचारों, विश्वासों और सिद्धांतों को प्रकट करने का माध्यम नहीं होती बल्कि उसमें एक जाति के सांस्कृतिक बिंब, ऐतिहासिक स्मृतियों और पारंपारिक संस्कारों के मूल स्वर अनुगूँजित होते हैं।'' (साहित्य का आत्मसत्य, पृ. 88)

रचना और आलोचना की भाषा में वर्णनात्मकता प्रधान रुप से पायी जाती है। वर्णनात्मक भाषा ही आलोचना की भाषा का महत्वपूर्ण गुण है। यह प्रवृत्ति रचना और आलोचना की भाषा में प्रमुखता से दिखायी देती है। दर्शनशास्त्र के प्रसिद्ध विचारक डॉ. सुरेंद्र बारलिंगे इसकी ओर संकेत करते हुए लिखते हैं, ''जब हम किसी कृति की आलोचना करते हैं तो उस आलोचना में साहित्य कृति का जो वर्णन आता हैं वह साहित्य कृति को समझने के लिए उपयुक्त होता हैं। एक दृष्टि से देखा जाए तो 'वर्णन' से ही मूल्य ध्वनित करना आलोचना की विशेषता है। साहित्य की भाषा के समान ही आलोचना की भाषा में भी 'वर्णन' का ही प्रकार है। इसलिए जब हम साहित्य का आलोचना में 'वर्णन' का प्रयोग करते हैं तो वह विवरण मूल्यांकन परोसना होता हैं। जिसको हम मूल्य की भाषा कहते हैं वह भी आरंभ में बहुत कुल हद तक 'वर्णन' की ही भाषा थी। किंतु

वर्णनात्मक भाषा द्वारा भी मनुष्य मूल्यात्मक चित्र निर्माण कर सकता हैं। (आलोचना, पृ. 29)

रचनात्मक साहित्य की भाषा अनुभवों को प्रत्याक्षित करने का, अनुभवों को आकार एवं मूर्त रुप देने का कार्य करती हैं। आलोचना की भाषा का कार्य हैं, अनुभव पर चिंतन करना, निष्कर्ष निकालना एवं तत्वान्वेषण करना। आलोचना की भाषा रचना की भाषा पर ही निर्भर होती हैं। इसी कारण दोनों की भाषा की भावभूमि एक ही होती हैं। इस संदर्भ में प्रसिद्ध दर्शनशास्त्र के विचारक डॉ. सुरेंद्र बारलिंगे लिखते हैं, ''आलोचना की भाषा को कृति की भाषा का पूरक ही रहना पड़ेगा। जहाँ कृति की भाषा गूढ हैं वहाँ तो आलोचना की भाषा को स्पष्ट और अर्थवादी रहना पड़ेगा। किंतु जहाँ कृति की भाषा सरल और अर्थवादी हैं वहाँ आलोचना की भाषा को गूढ़, दुर्बोध या निरर्थक करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं हैं'' (आलोचना, पृ. 29)

आलोचक को रचना का मूल्यांकन करते समय उसके टेक्श्चर और स्ट्रक्चर को केंद्र में रखना पड़ता हैं। इन दोनों छोरों के मूल्यांकन के बिना आलोचना एकांगी हो सकती है। रचना का टेक्श्चर और स्ट्रक्चर आलोचना की भाषा पर गहरा प्रभाव छोड़ देते है। आलोचक इन दोनों पक्षों का मूल्यांकन करते समय रचनात्मक खामियों को स्पष्ट कर देता हैं, साथ ही लेखक को चेतित भी करता हैं। इस संदर्भ में पास्कल की टिप्पणी काफी सटीक हैं, ''एक छोर पर जाकर ही कोई अपनी महानता प्रकट नहीं करता, महानता प्रकट करता है तो दोनों को एक साथ छूते हुए बीच की समूची जगह स्वंय भरकर।'' (वाद विवाद संवाद, भूमिका, पृ. 7)

इसी कारण आलोचना की भाषा में रचना के इन दोनों पक्षों को विश्लेषित करने में सहायक भाषिक शब्दावली का प्रयोग होता हैं।

रचना और आलोचना की भाषा में विचारधारा का महत्व असाधारण हैं। रचनाकार अपनी कलाकृति की सृजना किसी एक विचारधारा को आदर्श मानकर करता हैं। उस विचारधारा की छवियां साहित्य का अंग बनकर रचना में अभिव्यक्त होती हैं। आलोचक की भी अपनी विचारधारा होती हैं और उसी विचारधारा को केंद्र में रखकर ही वह रचना की पड़ताल करता हैं। रचना और आलोचना में संकेतित विचारधारा की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा हैं। इस संदर्भ में अंग्रेजी आलोचक आर. जी. कॉलिंगवुड के विचार महत्वपूर्ण हैं। बकौल कॉलिंगवुड, ''एक अर्थ से भाषा पूर्णता विचारों की प्रक्रिया हैं। और वह जो कुछ अभिव्यक्त कर सकती हैं वे सिर्फ विचार ही होते हैं क्योंकि अनुभव के जिस स्तर तक उसका संबंध होता हैं वो स्तर-बोध का या चेतनता का या कल्पना का होता है। और यह स्तर संवेदना या मानसिक अनुभव क्षेत्र का न होकर विचार क्षेत्र का ही होता है। (कलेची मूलतत्वे, पृ. 289) कॉलिंगवुड भाषा में अनुभव, कल्पना तया बोध से ज्यादा महत्व विचारों को देते हैं। वे भाषा को विचारों को अभिव्यक्त करने का महत्वपूर्ण साधन मानते हैं।

तात्पर्य यह है कि रचना और आलोचना की भाषा ऐतिहासिक संरचना से अनुप्रणित होती है उसका संबंध अभिव्यक्त विचारों से होता हैं। उसका संबंध परंपरा, संस्कार, ऐतिहासिक स्मृतियों और संस्कृति से होता हैं। आलोचना की भाषा कुछ हद तक रचना की भाषा पर आधारित होती हैं। परंतु रचना और आलोचना की भाषा में कई समानताएँ होते हुए भी कुछ विषमताएँ भी हैं। जैसे

पद्यात्मक भाषा आलोचना की भाषा नहीं हो सकती भले ही काव्यपंक्तियों का आधार आलोचना में लिया गया हो। आलोचनात्मक भाषा की अपनी प्रकृति एवं स्वरुप कुछ हद तक रचना की भाषा से भिन्न हैं।

आलोचना की भाषा : प्रकृति एवं स्वरुप :-

आलोचना की भाषा का स्वरुप आलोचना पद्धतियों एवं आलोचनात्मक दृष्टियों पर आधारित होता हैं। आलोचना पद्धतियों के जितने भी रुप एवं सिद्धांत प्रचलित हैं वे अपने युग दर्शन, साहित्यिकवाद एवं चिंतन प्रणालियों पर आधृत रहे हैं। साहित्यलोचना कभी साहित्यशास्त्र, कभी दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, मार्क्सवाद तया विभिन्न पाश्चात्य साहित्य सिद्धांतों एवं वादों पर आधृत रही हैं। परिणामस्वरुप आलोचना के लिए उसी प्रकार की भाषिक शब्दावली विकसित और प्रयुक्त होती रही। इसी कारण इस प्रकार की आलोचना में साहित्य का मूल्यांकन करते हुए साहित्य शास्त्रीय सिद्धांत, सामाजिक तत्व, दर्शन और मनोविश्लेषण तो देखा ही गया पर साहित्यिक संरचना एवं प्रकृति पर ध्यान नहीं दिया गया। परिणामत: हुआ यह कि साहित्यालोचना के नाम पर साहित्य में समाजिकता, दार्शनिकता, संस्कृति, मनोविश्लेषण और न जाने बहुत कुछ चीजों का विश्लेषण हुआ किन्तु आलोचना का उचित दिशा में विकास नहीं हुआ। मूलत: यही कारण हैं कि हिंदी आलोचना की भाषा जहाँ एक ओर स्थूल साहित्यशास्त्रीय शब्दावली से भरपूर है तो दूसरी ओर कार्य चित्रण के फूहड शब्द भण्डार से लबालब है। इसी कारण हिंदी आलोचना में अराजकतावादी स्थिति के दर्शन होते है। शायद इसी ओर चिंतित होकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है, ''विशुद्ध आलोचना के क्षेत्र में भाषा की क्रीड़ा किस प्रकार बाधक हुई है, कुछ बंधे हुए शब्द और वाक्य किस प्रकार विचारों को रोक रहें हैं, ऐसी बातें जिनकी कोई सत्ता नहीं किस प्रकार घने वाग्जाल के भीतर से भूत बनकर झाँकती रही हैं, यह दिखाते हुए बीसवीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध समालोचक तत्वज्ञ ने बड़ी खिन्नता प्रकट की हैं।'' (आलोचना, पृ. 1) आचार्य शुक्ल भले ही प्रभाववादी आलोचना और भाषा के विरोध में उपर्युक्त बात कहीं होगी परंतु इस मान्यता से आचार्य शुक्ल की आलोचना और आलोचनात्मक भाषा के संदर्भ में चिंता व्यंजित होती हैं। कर्णसिंह चौहान द्वारा नामवर सिंह और रामस्वरुप चतुर्वेदी पर लगाया गया यह आरोप ''..... किंतु रामस्वरुप चतुर्वेदी और नामवर सिंह ने शुक्लजी की मान्यताओं को संदर्भच्युत ही नहीं किया स्वंय उन्हीं के विरुद्ध इस्तेमाल भी किया हैं।'' (आलोचना के नए मान, पृ. 187) बिलकुल अपर्याप्त है और गलत भी हैं। क्योंकि नामवर सिंह और रामस्वरुप चतुर्वेदी द्वारा आचार्य शुक्ल की मान्यताओं का विभिन्न कोनों से बारीकी से विश्लेषण हुआ। दुरुह, संवादधर्मिता शून्य आलोचनात्मक भाषा और लोकानुभव से दूर आलोचनात्मक शब्दावली के प्रयोग के कारण आलोचना की भाषा पर टिप्पणी करते हुए बनारसीदास चतुर्वेदी ने चिंता प्रकट की हैं। ''बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने पत्र में लिखा : 'अंत में एक बात और इस समय आलोचनाओं में जिस भाषा का प्रयोग हो रहा है वह कुछ अटपटीसी है और उसके समझने में कठिनाई होती हैं। भाषा - शैली के निर्माण की ओर कोई ध्यान नहीं देता।..... हमें शिकायत इस बात की हैं कि आलोचनाशास्त्र इतना दुरुह बनता जा रहा हैं कि उसमें प्रवेश करने के लिए मेरे जैसे व्यक्ति को भी, जो 55 वर्ष से हिंदी लिख रहा हैं, मुश्किल पड़

जाती हैं। सीधी – साधी जुबान में लोग क्यों नहीं लिखते।'' (आलोचना के नए मान, पृ. 180)

प्रस्तुत उद्धरण में बनारसीदास चतुर्वेदी ने आलोचना की भाषा के संदर्भ में सवाल उठाया है। साथ ही आलोचना की भाषा में सहज – स्वाभाविक लक्षणों की माँग की हैं। उनकी यह माँग जायज हैं, क्योंकि आज हिंदी आलोचना में प्राध्यापकी आलोचकों की जमात में कई ऐसे आलोचक हैं जिनके शाब्दिक आतंक से कोई भी सामान्य शिक्षित पाठक के मूर्छित हो जाने का खतरा बन पड़ा हैं। दृष्टांत के स्वरुप आप देख सकते हैं, 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा', 'हे सौंदर्य प्राश्निक' जैसे ग्रंथों की भाषा। ऐसे आलोचकों के शाब्दिक आतंक से स्वंय रचनाकार भी आतंकित थे और पाठक भी। लेकिन ऐसी भाषा आलोचना की आदर्श भाषा का प्रतिमान कभी भी नहीं बन सकती। हमारी आलोचना की सबसे बड़ी खामी यह हैं कि आलोचना का विकास होते हुए 100 वर्ष की आयु हो गयी पर आलोचना की भाषा के संदर्भ में किसी भी आलोचक ने गंभीर रुप से विचार नहीं किया और आलोचना की भाषा में साहित्येतर जड़ शब्दावली की भरमार हो गयी। पहली बार आलोचना की भाषा के संबंध में विचार नामवर सिंह और उनके सहयोगियों द्वारा 'आलोचना', 'जुलाई – सितंबर 1957' के अंक में किया गया।

नामवर सिंह ने आलोचना की भाषा का सवाल उठाते हुए लिखा है कि, ''किसी ऐसे अनिश्चितार्थ शब्द को निश्चित अर्थ प्रदान करने के अतिरिक्त कोई आलोचक चाहे तो अपने अभिप्रेत सिद्धि के लिए एकदम नए पारिभाषिक शब्दों का निर्माण कर सकता हैं, सामान्य शब्दों को पारिभाषिकता प्रदान कर सकता हैं। ऐसे शब्दों की युक्तता स्थिति विशेष या संदर्भ द्वारा निर्धारित होती हैं। जैसे स्वंय मुक्तिबोध ने ही 'संवेदनात्मक ज्ञान' तथा 'ज्ञानात्मक संवेदन' का प्रयोग पारिभाषिक ढंग से किया हैं। इसी प्रकार 'लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' के अंतर्गत श्री विजयदेव नारायण साही ने व्यक्तिगत ढंग से अनेक शब्दों का परिभाषिक प्रयोग किया हैं। किंतु ऐसी स्थिति में, जैसा साही ने किया है, पाठक को इन शब्दों की प्रकृति के प्रति आत्मसजग कर देना आवश्यक है। एक सच्चे आलोचक की आत्मसजगता का परिचय देते हुए साही स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि ''ये कल्पना चित्र मूलत: आलोचना और विश्लेषण के औजार हैं, कृतिकारों के आदर्श और उद्देश्य नहीं। उनकी कसौटी यही है कि वे जीवन और साहित्य के विराट और प्रमाथित कर देनेवाले उतार-चढ़ाव में कोई पैटर्न, कोई डिजाइन, कोई तारतम्य या संगति देखने में मदद कर सकते हैं या नहीं।'' इस प्रकार एक बार आलोचक के इन कल्पना – चित्रों का बोध हो जाने के बाद उनके दुरुपयोग का खतरा नहीं रहता।..... स्पष्ट ही आलोचना की यह व्यक्तिगत शब्दावली सार्वजनिक भाषा की परिभाषिक पदावली का अंग नहीं बन सकती और कदाचित उसका उद्देश्य भी यह नहीं हैं। बल्कि अक्सर व्यक्तिगत छाप वाले ये शब्द दूसरों के हाथ पड़कर अपनी जीवंतता खो बैठते हैं।'' (आलोचना, पृ. 5-6) प्रस्तुत उद्धरण में नामवर सिंह का कहने का तात्पर्य यही है कि व्यक्तिगत भाषा तथा परिभाषिक शब्दावली से भरपूर भाषा आलोचना की भाषा का आदर्श नहीं बन सकती। कहना न होगा आलोचना की भाषा से उनका संकेत लोकानुभव की भाषा से हैं।

डॉ. रामस्वरुप चतुर्वेदी ने आलोचना की भाषा में पारिभाषिकता की अपेक्षा अनुभव के खुलेपन पर बल देते हुए कहा है कि, ''आलोचना की भाषा रचना के अनुभव को विवृत्त और समृद्ध करने में कहाँ तक समर्थ है, यह जाँचने का एक अच्छा ढंग यह होगा कि किसी समीक्षक द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट और केंद्रीय शब्दावली को इस दृष्टि से परखा जाए कि वह अनुभव को किस नए और सार्थक ढंग से पकड़ सकी है। यह ध्यान रखना होगा कि आलोचक द्वारा प्रयुक्त यह शब्दावली विशिष्ट होते हुए भी पारिभाषिक इसलिए नहीं होगी, क्योंकि वह अर्थ और अनुभव की निश्चितता को नहीं, उन्मुक्तता को व्यक्त करना चाहेगी। पिछले साहित्य - चिंतन के प्रत्त्ययों को आलोचक पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से प्रयुक्त करेगा, पर अपनी बात को जितनी दूर तक वह पारिभाषिक शब्दावली नहीं बनने देगा, उतनी ही दूर तक वह अपने आलोचना -कर्म में सफल होगा, क्योंकि रचनाकार के साथ - साथ उसका भी धर्म है कि वह अनुभव को जड़ न हो जाने दे।'' (आलोचना, पृ. 11) प्रस्तुत स्थापना में रामस्वरुप चतुर्वेदी एक ओर अनुभव के खुलेपन पर बल देते है तो दूसरी ओर पारिभाषिक शब्दावली को आलोचना की भाषा के लिए हानिकारक मानते

> **आलोचना की भाषा का महत्वपूर्ण गुण है संवादधर्मी होना। संवादधर्मिता ही भाषा में जीवटता लाती हैं। आलोचना की भाषा के इस पक्ष की ओर संकेत करते हुए नगेंद्र ने लिखा है, ''सच्ची आलोचना वैयक्तिक प्रक्रिया से शुरु होकर भी अन्यापेक्ष आकांक्षा से युक्त होती है और इसी अर्थ में वह संवादधर्मी हैं।'' (आलोचना की भाषा, पृ. 7) अर्थात आलोचना की भाषा पाठक और आलोचक के मेल की भाषा होती हैं।**

हैं। इसमें एक तीसरा भी पक्ष है 'विशिष्ट और केंद्रीय शब्दावली' को अनुभव के परिप्रेक्ष्य में परखना यहाँ सबसे महत्वपूर्ण सवाल उपस्थित हो जाता है कि 'विशिष्ट है तो उसमें पारिभाषिकता के तत्व अंर्तभूत हैं या नहीं? मेरी अपनी दृष्टि से पारिभाषिक शब्दों के तत्वों का परिपाक होता हैं। जैसे - मुक्तिबोध द्वारा प्रयुक्त शब्द 'संवेदनात्मक ज्ञान तया ज्ञानात्मक संवेदन' या नवआलोचकों द्वारा प्रयुक्त शब्द 'अनुभूति की प्रामाणिकता तथा 'भोगा हुआ यथार्थ' आदि। कहने का प्रयोजन यह है कि आलोचना की भाषा में पारिभाषिक शब्द वर्जित नहीं हैं शर्त बस यह है कि वे शब्द समूचे लोकानुभव के साथ भाषा में प्रयुक्त होने पर स्वीकार्य हैं।

आज आलोचना की भाषा में काव्यशास्त्रीय शब्दावली को व्याज माना जा रहा हैं। लेकिन प्रो. आनन्दप्रकाश दीक्षित का मानना है कि काव्यशास्त्रीय सिद्धांतो के तह में जाकर उनकी शक्ति से साक्षात्कार कर सकते हैं। बकौल प्रो. आनन्दप्रकाश दीक्षित, ''भारतीय काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों को सही तौर पर ग्रहण करके वर्गीकरण करके रख देने को ही आलोचना मान लेनेवाले आलोचको को भी इस बात का ध्यान होगा कि शब्दशक्ति, ध्वनि, रस और वक्रोक्ति का विवेचन भी तह में जाने पर भाषा की उस असीम शक्ति का उद्‌घाटन करता है जिससे भाषा और अनुभव के बीच का

रिश्ता समझ में आने लगता है और रचना के माध्यम से रचनाकार को जानने का उपक्रम किया जा सकता हैं।..... हो सकता है कि अकुशल हाथों में पड़कर भाषागत विश्लेषण कभी - कभार पुराने ढंग पर फिर रुप व्याख्या में अपने आपको समेट ले, किंतु जो जागरुक हैं उन आलोचकों के हाथों शब्द में निहित समस्त अर्थ संदर्भो और रचना - सौंदर्य को उद्घाटित होने का पर्याप्त अवसर हैं। (आलोचना प्रक्रिया और स्वरुप, पृ. 9-10) तात्पर्य यह है कि आलोचक द्वारा काव्यशास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग रचनागत अनुभव स्तर पर पहुँचकर करने से भाषा और अनुभव के बीच का रिश्ता दिखाई देता है। उसके लिए जागरुक और सधे हुए साधक का होना जरुरी हैं। जागरुक साधक की आलोचना में काव्यशास्त्रीय शब्दावली जीवंतता प्रदान कर देती हैं।

आलोचना की भाषा का महत्वपूर्ण गुण है संवादधर्मी होना। संवादधर्मिता ही भाषा में जीवटता लाती हैं। आलोचना की भाषा के इस पक्ष की ओर संकेत करते हुए नगेंद्र ने लिखा है, ''सच्ची आलोचना वैयक्तिक प्रक्रिया से शुरु होकर भी अन्यापेक्ष आकांक्षा से युक्त होती है और इसी अर्थ में वह संवादधर्मी हैं।'' (आलोचना की भाषा, पृ. 7) अर्थात आलोचना की भाषा पाठक और आलोचक के मेल की भाषा होती हैं।

कवि आलोचक अशोक बाजपेयी आलोचना की भाषा से संबंधित बहस में शिरकत करते हुए लिखते हैं, ''किसी रचना से साक्षात के समय आलोचक कौन से सवाल पूछता - उठाता हैं यह उसकी भाषा को नियमित करता हैं। अगर वे सवाल प्रासंगिक हैं तो उसकी भाषा में मानवीय तात्कालिकता और वह रचना को उसके अर्थ और महत्व दोनों पक्षों में उपयोगी ढंग से उजागर कर सकेगा, यानि उसकी भाषा जीवंत होगी, उसमें रचनात्मक उत्तेजना होगी, वह शब्दों की एक मूल्यवान और सार्थक व्यवस्था होगी। जरुरी नहीं कि आप उस भाषा के पीछे काम कर रही दृष्टि से वैचारिक सहमति रखें या रखना चाहें। वैसी सहमति उद्देश्य भी नहीं होगी। (आलोचना, पृ. 37)

प्रस्तुत उद्धरण मे अशोक बाजपेयी द्वारा विभिन्न शब्दों को पारिभाषिक रुप में इस्तेमाल किया गया है। उनकी स्थापना में यह विसंगति है कि, वे लिखते है, 'जरुरी नहीं कि आप उस भाषा के पीछे काम कर रही दृष्टि से सहमति रखे या रखना चाहें। बल्कि मेरी दृष्टि से यहां बल भाषा के पीछे की दृष्टि पर हैं। क्योंकि उन्होंने अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए मुक्तिबोध की 'एक साहित्यिक की डायरी' का सहारा लिया हैं। मुक्तिबोध द्वारा प्रयुक्त शब्दों के पीछे एक संघर्षशील व्यक्ति की जीवन दृष्टि है। आलोचना की भाषा में उस जीवनदृष्टि को खोजना आलोचक का दायित्व हैं। दूसरी बात यह हैं कि अशोक बाजपेयी ने अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए आलेख में विभिन्न पारिभाषिक शब्दों का सहारा लिया हैं। साथ ही उन्होंने सार्थकता, प्रसंगानुकूलता, प्रामाणिकता, संवादधर्मिता को आलोचना की भाषा के गुण माना है।

आलोचना की भाषा पर सवाल उठाते हुए कवि, कथाकार उद्यप्रकाश लिखते हैं, ''समकालीन आलोचना की भाषा की सबसे बड़ी खामी है स्थानिकता आलोचना की भाषा के संदर्भ में विचार करते हुए डॉ. सुरेंद्र बारलिंगे 'सामान्य भाषा' को आलोचना की भाषा के लिए

उपयुक्त मानते हैं, अत: साहित्य और उसकी आलोचना अर्थाभिमुख सामान्य भाषा के स्तर पर साथ - साथ चल सकते हैं, जबकि अन्य कलाओं में यह सरलतया संभव नहीं हैं।'' (आलोचना, पृ. 31)

सामान्य भाषा को स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह लिखते हैं, तात्पर्य यह कि 'सामान्य भाषा' का अर्थ स्पष्ट भाषा नहीं हैं। मूल प्रश्न हैं भाषा की वाचकता या व्यंजकता का अंतत: भाषा सामर्थ्य इस बात में हैं कि ''उसकी काट से आलोच्य कृति में उत्तेजक चमक उजागार हो।'' (आलोचना, पृ. 6) सामान्य भाषा का सर्वोत्तम गुण हैं अतिसरलीकृत होते हुए भी वाचकता और व्यंजकता को बनाए रखना।

आलोचना की भाषा के संदर्भ में विभिन्न आलोचकों की मतों के विवेचना के पश्चात हमारी दृष्टि से आलोचना की भाषा पाठक के मन और दिमाग को छूनेवाली हो। उसकी शैली ऐसी हो जो आलोचक की सोच को प्रतिबिंबित करें, साथ ही आलोचना की भाषा में समकालीन समय की अनुगूँज सुनायी देनी चाहिए।

संदर्भ :

1. साहित्य - सिद्धांत रेने वेलेक आस्टिन वारेन अनुवाद : बी. एस. पालीवाल लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण : 2012
2. आलोचना के नए मान कर्णसिंह चौहान, स्वराज प्रकाशन दिल्ली, संस्करण : 2001
3. साहित्य का आत्मसत्य निर्मल वर्मा भारतीय ज्ञानपीठ नयी दिल्ली पहला ज्ञानपीठ संस्करण : 2010
4. कला के सिद्धांत आर. जी. कॉलिंगवुड : अनुवादक, डॉ. ब्रजभूषण पालीवाल राजस्थान हिंदी अकादमी, जयपुर प्रथम संस्करण : 1972
5. आलोचना (त्रैमासिक) संपादक : नामवर सिंह राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली वर्ष : 17 अंक : 2 जुलाई - सितंबर 1967
6. ईश्वर की आंख उदयप्रकाश वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली द्वितीय संस्करण : 2005
7. आलोचना प्रक्रिया और स्वरुप संपादक : डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली प्रथम संस्करण : 1976
8. आलोचना की भाषा डॉ. पद्मनारायण अनुपम प्रकाशन, पटना प्रथम संस्करण : 1988
9. वाद विवाद संवाद नामवर सिंह राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली द्वितीय संस्करण : 1991

डॉ. सतीश कुमार पडोलकर, प्राध्यापक समाज भूषण गणपत राव कालभोर महाविद्यालय, पूणे
ई–मेल : spadolkar99@gmail.com

✧ ✧ ✧

आधुनिक हिंदी साहित्य में पर्यावरणीय चेतना

कृष्ण बिहारी पाठक

सभ्यता और समय के बदलाव के साथ साथ मानव समाज की इस चेतना में भी बदलाव आते रहे हैं, चूंकि साहित्य समाज का ही प्रतिबिंब है इसलिए मानव की पर्यावरणीय चेतना को साहित्येतिहास के विविध काल खंडों के झरोखे से देखा जा सकता है। प्रस्तुत आलेख आधुनिक हिंदी साहित्य में पर्यावरणीय चेतना को विविध कालखड़ों के माध्यम से समझने का प्रयास है। आधुनिक साहित्य में भारतेंदु और द्विवेदी युग में पर्यावरणीय चेतना प्रकृति के श्रद्धा युक्त वर्णन में, छायावाद युग में आत्मीयता तथा प्रेम आलंबन में तथा छायावादोत्तर युग में पर्यावरण के संरक्षण और संवर्द्धन के रूप में मुखरित हुई है।

जीवन से प्रथम साक्षात्कार के साथ ही मानव का प्रकृति और पर्यावरण से नाता जुड़ जाता है और आजीवन वो पर्यावरण से विविध रूपों में, विविध भावों में संबद्ध रहता है। प्रकृति में अपने भाव अभावों की पूर्ति करता मानव उसे अपने हर सुख दुख में साथ पाता है और पर्यावरण से चिर सानिध्य, मानव में पर्यावरण के प्रति पूज्यबुद्धि गर्भित आदर भाव और आत्मीयता स्थापित करता है जिसके वशीभूत हो मानव प्रकृति के संरक्षण, संवर्द्धन के लिए सनद्ध हो उठता है। प्रकृति और पर्यावरण के संरक्षण, संवर्द्धन के लिए मानव का यह पूज्यबुद्धि गर्भित आदर भाव ही पर्यावरणीय चेतना है।

पर्यावरणीय चेतना के नाम लेते ही मुझे कालिदास याद आते हैं। एक किवदंती हैं, सब कहते हैं कि कालिदास उसी डाल को काट रहे थे जिस पर बैठे हुए थे, जी नहीं, कोई गौर से देखता नहीं, कवि प्रमाण देता है कि प्रकृति, पर्यावरण, वृक्ष वनस्पति सब हमारी आधारभूत डालें हैं, इन्हें क्षति पहुँचाना उस आधार को क्षति पहुँचाना है जिस पर हम टिके हैं। पर सुनता कौन है? मेघदूत में मेघ को अपना निजी एकान्तिक सखा बनाने वाला क्या पेड़ों को काटने की बात सोच भी सकता है? जो मेघ से कहता है कि मेरा संदेश पहुँचाने में भले देर हो जाए पर जहाँ नदियों के सूखे पाट देखो, पानी को ताकते वृक्ष देखो तो बरस पड़ना। पर्यावरण

के प्रति ऐसी प्रेमिल दृष्टि वंदनीय है। अभिज्ञान शाकुंतलम ऊपर से देखने पर एक राजा और वनवासिनी कन्या की प्रेम कथा भले लगे पर इस कथा के अंतस में पर्यावरणीय चेतना का जो शीतल स्निग्ध स्रोता बह रहा है वह मानव सभ्यता को आकंठ मग्न करते हुए प्रकृति पर्यावरण के सम्मान का महान संदेश दे रहा है। राजा अर्थात नगरीय सभ्यता या आधुनिक मानव वन मे आते हैं और शकुंतला अर्थात वन्य संस्कृति पर मुग्ध होते हैं और शकुंतला (पर्यावरण) से उन्हें अपार प्रेम मिलता है और एक दिन राजा शकुंतला को भूल जाते हैं वैसे ही जैसे प्रकृति पर्यावरण का दोहन कर मानव उसे उपेक्षित कर देता है। भावुक हृदय कवि को ये स्वीकार नहीं इसीलिए शकुंतला के बहाने कवि की पर्यावरणीय चेतना ही छंद की सवारी करती हुई आ रही है। ऐसे कवि और उनकी कविता धन्य है, भारतजन्य है। वंदनीय है अभिनंदनीय है।

सभ्यता और समय के बदलाव के साथ साथ मानव समाज की इस चेतना में भी बदलाव आते रहे हैं, चूंकि साहित्य समाज का ही प्रतिबिंब है इसलिए मानव की पर्यावरणीय चेतना को साहित्येतिहास के विविध काल खंडों के झरोखे से देखा जा सकता है। प्रस्तुत आलेख आधुनिक हिंदी साहित्य में पर्यावरणीय चेतना को विविध कालखडों के माध्यम से समझने का प्रयास है। आधुनिक साहित्य में भारतेंदु और द्विवेदी युग में पर्यावरणीय चेतना प्रकृति के श्रद्धा युक्त वर्णन में, छायावाद युग में आत्मीयता तथा प्रेम आलंबन में तथा छायावादोत्तर युग में पर्यावरण के संरक्षण और संवर्द्धन के रूप में मुखरित हुई है। जिनमें निम्न बिंदुओं को पर्यावरणीय चेतना के आयामों के रूप में लिया गया है।

1. पर्यावरण के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव
2. पर्यावरण के प्रति प्रेम और आत्मीयता का भाव
3. पर्यावरण के लोक संग्रही रूप के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन
4. पर्यावरण संरक्षण का भाव
5. पर्यावरण संवर्द्धन के प्रयास और प्रेरणा का भाव।

साहित्य जगत में इस प्रकार से पर्यावरण के प्रति श्रद्धा, प्रेम, कृतज्ञता, संरक्षण और संवर्द्धन की भावना ही पर्यावरणीय चेतना के रूप में व्यक्त हुई है जिसे विविध काल खंडों में तुलनात्मक रूप से देखा जा सकता है।

(1) भारतेंदु काल और पर्यावरणीय चेतना-

भारतेंदु काल या पुनर्जागरण काल में प्राय: राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति का सम्मिलित स्वर ही साहित्य की मुख्य धारा में दिखायी दिया। परंतु जब जब बुद्धिवाद, तत्कालीन संघर्ष और राजभक्ति के ताप से कवि व्याकुल हुआ, तब तब प्रकृति के मनोमुग्धकारी रूपगान में उसे शीतल छांव मिलने लगी।

परंपरा मात्र के लिए प्रकृति वर्णन करने वालों के बीच सच्चे पर्यावरण चेतस कवियो को आचार्य शुक्ल ने अलग करके दिखाया है, भले ही ये कवि संख्या में कम थे परंतु पर्यावरण के प्रति इनकी चेतना आत्मीयता और आदर भाव के रूप में अद्वितीय है। इस युग में पर्यावरणीय चेतना प्रकृति के प्रति आदर एवं श्रद्धा भाव के रूप में स्थापित हुई। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में प्रेमघन जी की शैली की विशेषता बताते हुए 'आनंद कादंबिनी' में प्रकाशित 'परिपूर्ण पावस' की पंक्तियाँ उद्धृत की है जिनमें तत्कालीन पर्यावरण चेतना की छटा प्रकृति के मनोहारी रूप पर मुग्ध होने के भाव में देखी जा सकती है।

''पावस के आगमन से इस संसार ने भी दूसरा रंग पकड़ा।... सुंदर हरित पत्रवलियों से भरित तरुगनों की सुहावनी लताएँ लिपट लिपट मानों मुग्ध मयंकमुखियों को अपने प्रियतमों के अनुरागालिंगन की विधि बतलाती।''(1)

इसी इतिहास ग्रंथ में शुक्ल जी ने ठाकुर जगमोहन सिंह की पर्यावरणीय चेतना का वर्णन मुग्ध भाव से किया है-

''विंध्याटवी के रमणीय प्रदेश में निवास के कारण विविध भावमयी प्रकृति के रूप माधुर्य की जैसी परख, जैसी सच्ची अनुभूति उनमें थी वैसी उस काल के किसी हिंदी कवि या लेखक में नहीं पायी जाती।... ठाकुर जगमोहन सिंह जी ने नरक्षेत्र के सौंदर्य को प्रकृति के और क्षेत्रों के सौंदर्य के मेल में देखा है।... भारत भूमि की प्यारी रूपरेखा को मन में बसाने वाले वे पहले हिंदी लेखक थे।.. हम उनके श्यामा स्वप्न का एक दृश्य खंड नीचे देते हैं - ''ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों के बीच होकर बहती है। ''(2)

इस प्रकार भारतेंदु युगीन पर्यावरणीय चेतना को रूप माधुरी की मुग्धता और दिव्य प्रेम के रूप में देखा जा सकता है। इस युग में पर्यावरणीय चेतना का प्रथम आयाम श्रद्धा एवं आदर की दृष्टि के साथ नजर आता है। भारतेंदु की पंक्ति - तरनि तनुजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।'

तथा प्रेमघन की प्रसिद्ध समस्या पूर्ति -
चित चौत की चाँदनी चाह भरी चर्चा चलिबे की चलाईये ना।'

प्रकृति की रूप माधुरी पर मुग्ध हृदय की निश्छल पुकार नहीं तो क्या है। पर्यावरण के सुखद सानिध्य को त्याग कर वो कहीं और चलने की चर्चा भी नहीं चलाने की मधुर पुकार पर्यावरणीय चेतना का ही प्रकट निरूपण है।

(1) द्विवेदी युगीन साहित्य में पर्यावरणीय चेतना-

द्विवेदी युग में आते आते कविता ने अपने विषय क्षेत्र को नर सृष्टि से इतर भी विस्तरित किया जिसके संदर्भ में शुक्ल जी ने कहा है -

''यह भाव धारा अपने साथ हमारे चिर परिचित, पशु पक्षियों, पेड़ पौधों, जंगल मैदानों आदि को भी समेटे चलती है''(3)

द्विवेदी युग में पहले पहल श्रीधर पाठक की पर्यावरणीय चेतना प्रकृति के संश्लिष्ट और स्वछंद चित्रण और प्रकृति में परोक्ष सत्ता के रहस्य संकेत के रूप में सामने आती है। उनकी कविता 'काश्मीर सुषमा' की पंक्तियाँ देखने योग्य हैं –

'' प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति।''
पल पल पलटति भेस छनिक छबि छिन छिन धारति।।

शुक्ल जी ने पाठक जी की पर्यावरणीय चेतना को लक्ष्य कर लिखा है –

'' 'स्वर्गीय वीणा' में उन्होंने उस परोक्ष दिव्य संगीत की ओर रहस्यपूर्ण संकेत किया जिसके ताल सुर पर सारा विश्व नाच रहा है।''(4)

श्रीधर पाठक के अनुकरण पर ही रामनरेश त्रिपाठी ने प्रकृति की प्रेमिल छवि को काव्य का विषय बनाया तो मैथिलीशरण गुप्त ने मातृभूमि को सगुण मूर्ति सर्वेश मानते हुए साकेत के नवम सर्ग में उर्मिला के विरह वर्णन में निहित षडऋतु और बारहमासा वर्णन में पर्यावरण के लोकोपकारी, लोकसंग्रही रूप को चित्रित कर साहित्य की धारा को पर्यावरणीय चेतना के अभिनव आयामो से समृद्ध किया। ग्रीष्म के लोकोपकारी रूप की पंक्तियाँ –

''तपोयोगि, आओ तुम्हीं, सब खेतों के सार।
कूड़ा – कर्कट हो जहाँ, करो जलाकर छार।।...
हेमंत वर्णन की पंक्ति –
आया यह हेमंत दया कर देख हमें संतप्त सभीत।..
वर्षा ऋतु की–
'निज हेतु बरसता नहीं व्योम से पानी। (5)

आदि पंक्तियों में पर्यावरण के लोक संग्रही रुप का कृतज्ञता ज्ञापन के रूप में वर्णन है। इस प्रकार द्विवेदी युग में मुख्यतः श्रद्धा, प्रेम और कृतज्ञता ज्ञापन के रूप में पर्यावरणीय चेतना व्यक्त हुई है।

(3) छायावादी कवियों के काव्य में पर्यावरणीय चेतना–

आधुनिक साहित्य के उद्भव काल में अंकुरित पर्यावरणीय चेतना की स्नेह वल्लरी जो भारतेंदु और द्विवेदी युग में पर्यावरण के प्रति आदर, मुग्धता और कृतज्ञता ज्ञापन के रूप में विकसित हुई, छायावाद युग में आकर पर्यावरणीय चेतना के विविध आयामों को आनंद भाव से साथ लेकर पल्लवित, पुष्पित हुई। आचार्य शुक्ल ने पूर्ववर्ती युगों से इस युग की पर्यावरणीय चेतना के अंतर को लक्ष्य करके लिखा है – ''द्वितीय उत्थान में.. प्रकृति को, कवि लोग लेने लगे

पर.. ऊपरी प्रभाव तक ही.. चिर साहचर्य से उत्पन्न उनके प्रति हमारा राग व्यंजित न हुआ। ''द्वितीय उत्थान में शुक्ल जी ने जो कमियाँ गिनायी है उनकी पूर्ति उन्हें छायावादी कवियों में दिखायी पड़ी - ''ये कवि प्रकृति के साधारण असाधारण सब रूपों पर प्रेम दृष्टि डालकर, उसके रहस्य भरे सच्चे संकेतों को परखकर भाषा को अधिक चित्रमय, सजीव और मार्मिक रूप देकर कविता का एक अकृत्रिम, स्वच्छंद मार्ग निकाल रहे थे।'' (6)

शुक्ल जी ने छायावादियों की इस शैली का विश्लेषण अपनी निजी मान्यताओं के अनुरूप किया है। शुक्ल जी की पर्यावरणीय चेतना का एक विशेष महत्व है उनकी प्रकृति विषयक दृष्टि में पर्यावरणीय चेतना के सभी आयाम समाहित है, कविता की पूर्णता और सच्ची कविता के लिए पर्यावरण की अनिवार्यता की उनकी विहंगम दृष्टि उनके निबंध 'कविता क्या है?' के चश्मे से समझी जा सकती है -

''मेघदूत न कल्पना की क्रीडा है, न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप माधुरी पर सीधी सादी प्रेम दृष्टि.... ।

... हम पेड़ पौधों और पशु पक्षियों से संबंध तोड़कर बड़े बड़े नगरों में आ बसे पर उनके बिना रहा नहीं जाता।... हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता।... बरसात के दिनों में जब सुर्खी चूने की कड़ाई की कुछ भी परवाह न कर हरी हरी घास पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानो हमें ढूँढती हुई आती है और कहती है कि तुम हमसे क्यों दूर दूर भागे फिरते हो?''(7)

हृदय की मुक्तावस्था में प्रकृति से बतियाता मानव जब निश्छल विशुद्ध प्रेम के स्तर पर पहुँच जाता है तो प्रकृति भी उससे बात करने को आतुर रहती है और काव्य के लिए ये अवस्था महानतम उपलब्धि की है इसीलिए नागमती के विरह वर्णन को शुक्ल जी ने अद्वितीय वस्तु कहा है। छायावाद युगीन कवियों की पर्यावरणीय चेतना को विविध आयामों के संदर्भ में देखना समीचीन है -

1. आदर, श्रद्धा युक्त पूज्यबुद्धि गर्भित पर्यावरणीय चेतना -

इस युग में कवियों ने निश्छल अंतस से प्रकृति की आराधना की है। प्रकृति के सुकुमार कवि तो सब कुछ त्याग कर केवल प्रकृति का ही सानिध्य माँगते हैं -

''छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को।'' (8)

पंत के समकालीन निराला प्रकृति के रहस्यमय स्वरूप पर विस्मय विमुग्ध हो कहते हैं -

''कौन तम के पार? (रे, कह)
अखिल पल के स्रोत, जल-जग,
गगन घन-घन - धार। (रे, कह)'' (9)

2. प्रेम और आत्मीयता का भाव -

पर्यावरण से प्रेम करता हुआ कवि उसे अपने प्रेम पात्र के रूप में वर्णित करता है। मधुचर्या से अलसायी प्रकृति सुंदरी को प्रातः काल में जगाते प्रसाद की -

''बीती विभावरी जाग री। और सांध्य काल में निराला की 'संध्या सुंदरी' की स्नेहिल पुकार में यही शाश्वत प्रेमगीत है।

3. पर्यावरण के लोक संग्रही रूप के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन -

प्रकृति और पर्यावरण मुक्त हस्त दान करते हैं अपना सर्वस्व परहित में लुटाते हैं बिना किसी प्रत्याशा के इस चेतना को पंत ने अपनी कविता 'आ! धरती कितना देती है' में बहुत सुन्दरता से व्यक्त किया है -

''यह धरती कितना देती है। धरती माता
कितना देती है अपने प्यारे पुत्रों को।''(10)

4. पर्यावरण संरक्षण और संवर्द्धन की चेतना-

छायावाद युग में आधुनिकीकरण के चलते पर्यावरणीय घटकों में मानवीय हस्तक्षेप की शुरूआत हो चुकी थी इसलिए साहित्य में भी इस हस्तक्षेप से होने वाली क्षति से सावधान करने के संकेत दिए जाने शुरू हो गए थे। कामायनी के इडा सर्ग में प्रसाद ने यही संकेत दिए हैं कि परहितरत लोकमंगलकारी प्रकृति अनावश्यक हस्तक्षेप से विनाशक और विध्वंसक रूप ले सकती है। आधुनिकता और भौतिकता की दौड़ में सच्चे सुख को खोते मानव से वे कहते हैं -

''पावस रजनी में जुगनू गण को दौड़ पकड़ता मैं निराश।
उन ज्योति कणों का कर विनाश।'' (11)

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पर्यावरणीय चेतना के आयामो पर छायावाद युगीन साहित्य का फलक पूर्ववर्ती युगों से अधिक विकसित और वैविध्यपूर्ण रहा।

(4) नयी कविता में पर्यावरणीय चेतना -

नयी कविता अर्थात छायावादोत्तर काल की कविता में पर्यावरणीय चेतना के संरक्षण और संवर्द्धन के आयाम में अधिक वृद्धि हुई और स्वाभाविक भी थी क्योंकि इस काल आधुनिकीकरण और पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में मानव ने पर्यावरण में हस्तक्षेप से एक कदम आगे बढकर अंधाधुंध दोहन में अपनी प्रवृत्ति दिखाई, ऐसे में स्वाभाविक ही था कि गुणानुवाद से आगे बढकर

पर्यावरण संरक्षण और संवर्द्धन के लिए कवि साहित्यकार आगे आएं। इस युग के कवि नागार्जुन की पर्यावरणीय चेतना का विराट चित्र बच्चन सिंह ने 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' में खींचा है –

''जनपदीय मौसम, ऋतुचक्र, पेड़-पौधे, फूल-फल उनकी चेतना में ऐसे रचे बसे हैं जैसे धमनियों में दौड़ने वाला खून। उनके सौंदर्य चित्रण में कवि का उल्लास भी बरसता चलता है। पाठक कवि के साथ खेतों की मेडों पर घूमता, कछारों में उतरता, गेहूँ-धान की बालों को छूता – चूमता, मौलश्री, कटहल की टटकी गंध को सूंघता, वंशी-मादल के स्वरों पर झूमता, किशोरियों के कोमल कंठों में डूबता आज के ऊबड़-खाबड़ जीवन को नया अर्थ और आस्तिकता देता है।''(12)

नागार्जुन वाकई में प्रकृति के जीवनोत्सव के कवि हैं। कविता में वे याद आता मुझे तरौनी गाँव कहकर अपनी चेतना का प्रमाण देते हैं तो उपन्यास बाबा बटेसरनाथ में वटवृक्ष को ही बुजुर्ग मानकर सम्मानित करते हैं। नागार्जुन के ही समकालीन कवि केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी रचनाओं में पर्यावरणीय चेतना व्यक्त की है, जिसे लक्ष्य कर बच्चन सिंह ने लिखा है –

''केदार छायावादोत्तर कविता के पंत हैं... बरगद, इमली, सेमल के पुरनिया पेड़, धतूरा और बेल पर कोई किसान कवि ही लिख सकता है। 'चंद गहना से लौटती बेर' में कवि खेत की मेड पर बैठा देख रहा है... केन नदी तो उसके तन मन में ऐसी रची – बसी है जैसे पीपल के पत्तों में फैली हुई नसें... नदी और उसके पानी पर.. ढेर कविताएँ शायद ही किसी ने लिखीं हों।''(13)

किसान और पर्यावरण की पारस्परिक चेतना पर इस युग के हर कवि ने लेखनी चलायी। केदारनाथ के समान ही त्रिलोचन ने भी प्रकृति को किसान से जोड़ा है उन्होंने ग्रीष्म, वसंत, मेहँदी और चाँदनी को नवीन मानवीय संबंधों से जोड़ा है। गिरिजा कुमार माथुर कृत 'कल्पान्तर' में पर्यावरण प्रदूषण की समस्या का तथा 'पराविद्युता' में मानव द्वारा प्रकृति के प्रति किये गये दुर्व्यवहार का तथा विकिरण प्रदूषण का चित्रण है जिसके दुष्परिणामों से कवि सावधान करता है–

''पर धर्म हमारा, सावधान करना तुमको
... तुम आँखें मूँद रहे प्राकृतिक नियमों से।
... पृथ्वी का वातावरण आवरण विषमय होता जाता है।
... यह मनमानी यदि रूकी नहीं तो पृथ्वी तापग्रस्त होगी।
...मिट जाएगा जीवन का क्रम इस धरती से। (14)
अज्ञेय की 'जड़ें' कविता में भी यही भाव है–
''पेड़ के तनें में घाव करके उसमें खपच्ची लगा गये हैं वे
कि बूँद – बूँद रिसता रहे घाव उन्हे चाहिए लिसा।''(15)

इसी क्रम में भवानी प्रसाद मिश्र 'जो हम नहीं जानते' में प्राकृतिक दोहन की बात रखते हैं तो 'एक दिन जाना है' में वृक्ष संवर्द्धन की, 'काला उजाला' में प्रदूषण की, 'प्यासा दिन' में वे जल संरक्षण की गुहार करते हैं तो 'जलवा चीजों का' में उनकी चिंता कुछ यूं व्यक्त हुई है –

‘‘न पानी साफ है, न कहीं प्रकाश है स्वच्छ।..
कहीं चले जाओ मिलती नहीं है वायु प्राणपद।’’

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आधुनिक युग की कविता में पर्यावरण की दिव्यता का आदर, सौंदर्य का गुणगान, रूप से प्रेम, लोक संग्रह पर मुग्धता, संरक्षण की चिंता, संवर्द्धन, संतुलन के प्रयास आदि रूपों में पर्यावरणीय चेतना विकसित हुई है जो निश्चय ही साहित्य और साहित्यकारों की प्रासंगिकता की इबारत बनकर सामने आयी है।

संदर्भ :-

1. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, 1929 ई. पृष्ठ 470
2. वही, पृष्ठ – 474, 475
3. वही, पृष्ठ 601
4. वही, पृष्ठ 604
5. गुप्त, मैथिलीशरण, साकेत
6. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, 1929ई. पृष्ठ 650
7. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, चिंतामणि (कविता क्या है?), इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग
8. पंत, सुमित्रनंदन, तारापथ (छोड़ द्रुमों की मृदु छाया), लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
9. निराला, सूर्यकान्त त्रिपाठी, गीतिका (कौन तम के पार? रे कह।) भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण 1945 ई.
10. पंत, सुमित्रानंदन, अतिमा (आ धरती कितना देती है), भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 1955 ई., पृष्ठ 58
11. प्रसाद, जयशंकर, कामायनी (इडा), भारती भंडार प्रेस, इलाहाबाद
12. सिंह, डॉ. बच्चन, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन सातवां संस्करण 2014 ई., पृष्ठ 413
13. वही, पृष्ठ 416
14. माथुर, गिरिजा कुमार, कल्पान्तर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस
15. अज्ञेय, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन, ऐसा कोई घर आपने देखा है (जड़ें)

कृष्ण बिहारी पाठक, व्याख्याता हिन्दी, तिरुपति नगर, हिंडौन सिटी, जिला : करौली, राजस्थान
मो. : 9887202097, ई–मेल : kpathakhnd6@gmail.com

✧ ✧ ✧

हिन्दी का उद्भव, विकास, विस्तार और संभावनाएँ

गंगाधर शर्मा 'हिन्दुस्तान'

यहाँ भाषित से भाषा की सर्जना हुई है। एक ही दृश्य को देखकर अलग अलग समय में अथवा अलग अलग व्यक्ति द्वारा भाषा में जो भी कहा या लिखा जाता है वह एक समान नहीं होता है। हर बार एक नवीन स्वरुप में संप्रेषण होना वस्तुतः भाषा का एक नया जन्म कहा जा सकता है। निरंतर पुनर्जन्म की इस अविरल धारा से कोई भी भाषा कलकल निनाद करती एक महासरिता का कलेवर धारण कर लेती है। यही भाषा की जीवनी शक्ति है। जो भाषा पुनर्जन्म की इस प्रक्रिया की निरंतरता को बनाए रखने में शिथिल हो जाती है वह शीघ्र ही अपना अस्तित्व खो देती है।

हिन्दी के उद्भव और क्रमिक विकास का एक महत्वपूर्ण घटक परम कृष्ण भक्त महात्मा विठ्ठलनाथ जी के द्वारा की गई सम्पूर्ण भारत की अनेक यात्राओं का प्रभाव भी है। वृन्दावन के कण-कण में बसी बृज-भाषा की मनमोहनी शैली एवं अद्भुत आकर्षण को उन्होंने सुदूरवर्ती क्षेत्रों में अपने दीर्घ जीवनकाल में किये गए प्रवासों के माध्यम से पहुँचाया। उनकी शिष्य परंपरा में हुए अष्टछाप के कवि कुंभनदास जी की ख्याति तो इतनी थी कि मुगल बादशाह अकबर ने विशेष दूत द्वारा बड़े आदर के साथ उन्हें फतेहपुर सीकरी आने के लिए निमंत्रण भेजा था। बृज प्रदेश की इसी भाषा को इसकी सरलता और सुस्पष्टता के कारण खड़ी बोली भी कहा जाता रहा। यही खड़ी बोली हिन्दी का प्रारंभिक स्वरुप है।

''निज भाषा उन्नति अहैं, सब उन्नति को मूल'' कहकर भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने भाषा की महत्ता को सर्वोच्च स्थान पर स्थापित कर दिया है। 'भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहीं खोरी।' कहते हुए तुलसीदास जी का अपनी भाषा के प्रति प्रेम स्वतः प्रस्फुटित हो रहा है। अपनी भाषा के प्रति सम्मान का अनुपम उदहारण गोस्वामी तुलसीदास जी कुछ इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :

श्याम सुरभि पय बिसद अति गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस गावहिं सुनहिं सुजान।।

जिस प्रकार श्यामा गाय का रंग काला होने पर भी गुणीजन उसके दूध का पान अत्यंत गुणकारी जानकर करते हैं उसी प्रकार भले ही मेरी रचना रामचरित मानस ग्रामीण भाषा में है गुणीजन उसका गायन और श्रवण बड़े ही चाव से करेंगे।

हिंदी को समृद्ध बनाने में सभी धर्म के अनुयायी प्राणपण से जुटे हुए थे। ऐसे ही एक भक्त कवि रसखान हुए। ये जन्म से इस्लाम के मानने वाले थे। भागवत का फारसी अनुवाद पढ़कर उपजी भगवान कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति ने इन्हें कृष्ण काव्य रचने की प्रेरणा दी। प्रेम वाटिका और सूजन रसखान नामक इनकी दो रचनाएँ हिन्दी भाषा की एक अनमोल धरोहर है।

भाषा और भाषित के परस्पर सम्बन्ध को कवि विनोद कुमार शुक्ल की कविता से ली गई पंक्तियाँ पढ़कर आसानी से जाना जा सकता है।

''धौलगिरि को देखकर
मुझे याद आई
धौलगिरि की तस्वीर
क्योंकि पहले तस्वीर देखी गई थी।''

यहाँ भाषित से भाषा की सर्जना हुई है। एक ही दृश्य को देखकर अलग अलग समय में अथवा अलग-अलग व्यक्ति द्वारा भाषा में जो भी कहा या लिखा जाता है वह एक समान नहीं होता है। हर बार एक नवीन स्वरुप में संप्रेषण होना वस्तुत: भाषा का एक नया जन्म कहा जा सकता है। निरंतर पुनर्जन्म की इस अविरल धारा से कोई भी भाषा कलकल निनाद करती एक महासरिता का कलेवर धारण कर लेती है। यही भाषा की जीवनी शक्ति है। जो भाषा पुनर्जन्म की इस प्रक्रिया की निरंतरता को बनाए रखने में शिथिल हो जाती है वह शीघ्र ही अपना अस्तित्व खो देती है। हिन्दी की विराटता का रहस्य पुनर्जन्म की इसकी अबाधता ही का सुपरिणाम है। संस्कृत रुपी हिमालय से निकली तन्वंगी हिन्दी-गंगा विभिन्न बोलियों, भाषाओं रूपी सहायक नदियों को समेटे विदेशी आक्रांताओं द्वारा निर्मित गह्वरों और बांधों को पाटते और तोड़ते हुए जब भाषाओं के महासागर से मिलती है तो अपना अस्तित्व खोती नहीं बल्कि विश्व-भाषासागर को ही हिन्दी-महासागर बना देती है।

हिंदी के प्रादुर्भाव काल को लेकर अध्येताओं के जितने भी मत हैं वे सब हिंदी के वर्तमान मानक स्वरुप को केन्द्र में रखकर बनाए गए हैं। हिन्दी के काल निर्धारण के लिए उसके देवभाषा संस्कृत से पृथक अस्तित्व के काल को निर्धारित करना अधिक युक्तिसंगत होगा।

इस मत के अनुसार हिन्दी के वर्तमान मानक स्वरुप के मूल में रही अवधी और बृज भाषाओं की प्राचीनता रामायण के समकक्ष ही है। इसके प्रमाण में बाल्मिकी कृत रामायण का वह

प्रसंग है जिसमे सीता से भेंट होने पर हनुमान उनसे संस्कृत में संवाद नहीं करते है। वह संवाद के लिए अयोध्या राज्य में बोली जाने वाली ग्रामीण भाषा का प्रयोग करते हैं और उसी भाषा में अपने स्वामी श्री राम का संदेश माता सीता को सुनाते हैं। इससे रामायण काल में हिन्दी के लोकभाषा होने में कोई संदेह नहीं रह जाता है।

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम् ।
रावनं मन्यमाना माँ सीता भीता भविष्यति ॥
वानरस्य विशेषेण कथं स्यादभिभाषणम् ।
अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत ॥

संदेशवाहक के प्रति विश्वसनीयता स्थापित करने के लिए अवधि में संदेश देने का उनका निहितार्थ निज भाषा के प्रति निष्ठा का एक अन्यतम उदहारण है। इसके अतिरिक्त यह हिन्दी भाषा के वैश्वीकरण की दिशा में प्रथम चरण भी कहा जा सकता है इस प्रकार हनुमान और सीता के मध्य जो संवाद हुआ वह समुद्र पार होने वाला हिन्दी का पहला संवाद बना।

हिन्दी के बोलने वाले धरती के लगभग समस्त क्षेत्र में विस्तीर्ण हैं। खान-पान, रहन-सहन की आदतों के साथ ही भौगोलिक विभिन्नता के परिणाम स्वरुप उच्चारण में एकरूपता का अभाव हिन्दी के अनेक स्वरूपों के सहअस्तित्व का दर्शन प्रस्तुत करता है। इन सभी रूपों में हिन्दी की पहचान उसके वाक्य-विन्यास से बड़ी ही सहजता से की जा सकती है। हिन्दी मात्र एक भाषा नहीं है।

हिन्दी भाषा नहीं समूह है भाषाओं का एक बड़ा।
भाषाओं ने चुन-चुन इसमें रत्न एक से एक जड़ा।
कितनी भाषाओं को मिलती हिन्दी से पहचान है।
हिन्दी को भाषा भर कहना हिन्दी का अपमान है॥

जब हिन्दी को सिर्फ भाषा नहीं कहा जा सकता तो यह प्रश्न स्वाभाविक है कि हिन्दी वस्तुत: क्या है। हिन्दी भाषा से कहीं अधिक एक महाभाषा, संस्कृति और समग्र मानवता की एक पूंजीभूत अभिव्यक्ति, एक विराट चेतना है।

हिन्दी नहीं बोली या भाषा यह स्वयं भारती माता है।
केरल में है पाँव पसारे, कश्मीर इसी का माथा है॥

जब भाषा वैश्विक स्वरुप धारण कर लेती है तो उसमे कतिपय विचलनों का आना स्वाभाविक है, तथापि इन विचलनों के कारण भाषा को किसी अन्य संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता। त्रुटिपूर्ण उच्चारण अथवा विकृत एवं अपभ्रंस शब्द संयोजन से बना हिन्दी व्याकरण सम्मत सार्थक वाक्य-विन्यास हर परिस्थिति में हिन्दी वाक्य ही कहा जायेगा। वैदिक सूत्रों के भाष्यकार पतंजलि का कथन है कि किसी एक अवयव की विकृति मात्र से कोई भी जीव या जड़ पदार्थ दूसरा नहीं हो जाता है।

एकदेशविकृतमनन्यवद भवति

इसी बात को इस तरह भी समझा जा सकता है...

छिन्नपुच्छःश्वा न हि गर्दभो वृषभो वा भवति

अर्थात पूँछ विहीन होने की अवस्था में गधा वृषभ अथवा वृषभ गधा नहीं हो जाता है। यही बात भाषा के संबंध में भाषा के टूटी-फूटी और अस्फुट होने पर भी लागू होती है। भारत के बाहर जाने-अनजाने जो लोग हिन्दी को अपने भाव सम्प्रेषण की भाषा बनाते हैं उन्हें हिन्दी की उन्नति के संघर्ष का एक बहादुर सिपाही स्वीकार करने मे किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

वर्तमान समय दूरसंचार के क्षेत्र में अकल्पनीय क्रांति का समय है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास ने दुनिया के सभी देशों को परस्पर संवाद के उन्नत उपकरणों से जैसे पाट ही दिया है। भाषा की अभेद्य दीवारें ध्वस्त हो रही हैं। व्यावसायिकता की असीम आवश्यकताओं ने अनेक भाषाओं का अस्तित्व तक मिटा दिया है। ऐसे में हिन्दी ने अपनी स्थिति को और मजबूत बनाते हुए न केवल अपने पारंपरिक प्रभाव क्षेत्र को अक्षुण्ण बनाए रखा है अपितु संसार के उपनिवेशवादी राष्ट्रों में भी अपनी जड़ें और अधिक मजबूती से जमाई है। गूगल, माइक्रोसॉफ्ट जैसी हजारों छोटी-बड़ी सूचना-तकनीक कंपनियों की समस्त सेवाओं का हिन्दी संस्करण उपलब्ध होना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। 'हंस' के माध्यम से विदेशी साहित्यिक रचनाओं के हिन्दी अनुवाद उपलब्ध कराने की जो दूरगामी सोच आधुनिक भारत की पत्रकारिता के युगपुरुष मुंशी प्रेमचंद ने दिखाई थी उसी का अनुगमन करते हुए हिन्दी को समृद्ध बनाने मे जुटे अनगिन लेखक, कवि और साहित्यसेवी पत्रकार जिस ऊर्जा से निरंतर अपना पसीना बहा रहे हैं वह निस्संदेह ही हिन्दी को विश्व भाषा पटल पर सर्वोच्च स्थान की अधिकारिणी बना देगा।

रामायण काल की प्राचीन भाषा समय के साथ और निखरती ही जा रही है। अनेक देशों के विश्वविद्यालयों का पाठ्यक्रम हिन्दी के बिना अधूरा रहता है। भारत सरकार के प्रयास हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र की आधिकारिक भाषाओं की सूची में स्थान दिलाने के लिए सतत सफलता के पथ पर अग्रसित हैं। वह दिन दूर नहीं जब हिन्दी विश्व की सबसे ज्यादा बोली जाने वाली भाषा होगी।

गंगाधर शर्मा 'हिन्दुस्तान', 472 बी. के. कौल नगर, अजमेर, राजस्थान, भारत
मो. : 9414368582, ई-मेल : gdsharma1970@gmail.com

✧ ✧ ✧

आलेख

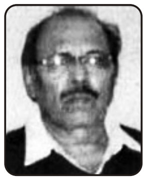

सामाजिक विषमता के कुशल चितेरा : निराला

राजेन्द्र परदेसी

निराला इसी सामाजिक, क्रान्ति के स्वर को तीव्र एवं प्रखर बनाते हुए 'जागो फिर एक बार' नामक दो कविताओं में फिर भारत की उन चिर-प्रसुप्त शक्तियों को झकझोरा है, जो परतंत्रता की गहरी नींद में सोई पड़ी थी और जिन्हें पता नहीं था कि उनकी यशोगाथा के गीत पहले महासिन्धु ने गाये हैं। जो महाभारत का युद्ध जीतकर चक्रवर्ती होने की समक्षता रखते हैं और जिन्होंने गुरू गोविन्द सिंह बनकर सुयश कमाया है।

निराला हिन्दी साहित्य के एक ऐसे कवि हैं जिनकी रचनाओं में तत्कालीन मानव की पीड़ा, परतन्त्रता एवं परवशता के प्रति उत्पन्न तीव्र आक्रोश की ध्वनि सुनाई पड़ती है। अन्याय एवं असमानता के प्रति प्रलयकारी विद्रोही की घोषण सुनाई पड़ती है और विषमताओं, विभेदों एवं विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करने की तीव्र गर्जना सुनाई पड़ती है।

जिस प्रकार निराला का जीवन नाना प्रकार की असंगतियों, असमानताओं एवं द्वंद्वपूर्ण परिस्थितियों से परिपूर्ण रहा है, उसी तरह उनकी अनुभूति भी विषमता, विविधता एवं असंगतियों के साथ-साथ द्वन्द्व से परिपूर्ण दिखाई देती है। निराला को परिस्थितियों के घात-प्रतिघात ने एक उद्‌बुद्ध, सचेत एवं जाग्रत कलाकार के रूप में ढाल दिया था, उन्हें जीवन और जगत के प्रति गम्भीरता के साथ सोचने एवं समझने के लिए विवश किया था और उन्हें अन्याय, अत्याचार एवं असमानता के विरूद्ध आवाज बुलन्द करने के लिए प्रेरित किया था। निराला का कवि तत्कालीन मानवता पर होने वाले अनवरत अत्याचारों से कराह उठा था। मानव की पीड़ा ने उसे व्यथित एवं बेचैन बना दिया था और दीनता एवं कातरता ने उनके ह्रदय में गहन-वेदना, टीस, छटपटाहट एवं आक्रोश को कूट-कूटकर भर दिया था, इसीलिए निराला ने ऐसे काव्य का सृजन किया है जिसमें क्रान्ति एवं विद्रोह का स्वर मुखरित हो रहा है। जिसमें समाज की व्यथा एवं वेदना को स्थान मिला है और जिसमें विषमता से

राला हिन्दी साहित्य के एक ऐसे कवि है जिनकी रचनाओं में तत्कालीन मानव की पीड़ा, परतन्त्रता एवं परवशता के प्रति उत्पन्न तीव्र आक्रोश की ध्वनि सुनाई पड़ती है। अन्याय एवं असमानता के प्रति प्रलयकारी विद्रोही की घोषण सुनाई पड़ती है और विषमताओं, विभेदों एवं विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करने की तीव्र गर्जना सुनाई पड़ती है।

जिस प्रकार निराला का जीवन नाना प्रकार की असंगतियों, असमानताओं एवं द्वंद्वपूर्ण परिस्थितियों से परिपूर्ण रहा है, उसी तरह उनकी अनुभूति भी विषमता, विविधता एवं असंगतियों के साथ-साथ द्वन्द्व से परिपूर्ण दिखाई देती है। निराला को परिस्थितियों के घात-प्रतिघात ने एक उद्‌बुद्ध, सचेत एवं जाग्रत कलाकार के रूप में ढाल दिया था, उन्हें जीवन और जगत के प्रति गम्भीरता के साथ सोचने एवं समझने के लिए विवश किया था और उन्हें अन्याय, अत्याचार एवं असमानता के विरूद्ध आवाज बुलन्द करने के लिए प्रेरित किया था। निराला का कवि तत्कालीन मानवता पर होने वाले अनवरत अत्याचारों से कराह उठा था। मानव की पीड़ा ने उसे व्यथित एवं बेचैन बना दिया था और दीनता एवं कातरता ने उनके हृदय में गहन-वेदना, टीस, छटपटाहट एवं आक्रोश को कूट-कूटकर भर दिया था, इसीलिए निराला ने ऐसे काव्य का सृजन किया है जिसमें क्रान्ति एवं विद्रोह का स्वर मुखरित हो रहा है। जिसमें समाज की व्यथा एवं वेदना को स्थान मिला है और जिसमें विषमता से पीड़ित मानवता की छटपटाहट अंकित है। यह बात कवि की रचनाओं के अनुशीलन से पूर्णत: स्पष्ट हो जाती है।

कवि निराला 'बादल राग' में बादल से समाज में नवक्रान्ति उत्पन्न करने के लिए मानवों के हृदय में उथल-पुथल एवं हलचल मचाने का आग्रह करता है। ऐसे ही दूसरे बादल-राग में कवि विप्लव के नवजलधर से यह अनुरोध करता है कि वह समाज में विषमता उत्पन्न करने वाले एवं विश्व वैभव को लूट-लूटकर एकत्र करने वाले पत्र-पुष्प-पादक जैसे धनिकों एवं शोषकों को छिन्न-भिन्न कर उन पर अपने प्रचण्ड वज्रघोष से आतंक स्थापित करें तथा भय के इस मायामय आंगन में विप्लवकारी गर्जन करें और तीसरे बादल-राग में निराला सारे विश्व में नवजीवन भरकर भारत में भी नवजीवन का संचार करने के लिए बादल से भारत में उतरने का आग्रह करते हैं। इसके अतिरिक्त कवि अपने बादल-गीत में भारत के जीर्ण-शीर्ण किसानों की दयनीय स्थिति पर आँसू बहाते हुए बादल से अनुरोध करता है-

हे बज्रगर्जन के धनी एवं विप्लव के वीर बादलों
तुम भारत के इन भयभीत,
नयन-सुख ढाँपे हुए
जीर्ण बाहु एवं शीर्ण शरीर कृषकों की पुकार को सुनकर
यहाँ विप्लव मचाने के लिए अवश्य पधारो
तुम तो विप्लव के वीर हो
अरे! देखो तो यहाँ पर इन बेचारे कृषकों का

राला हिन्दी साहित्य के एक ऐसे कवि है जिनकी रचनाओं में तत्कालीन मानव की पीड़ा, परतन्त्रता एवं परवशता के प्रति उत्पन्न तीव्र आक्रोश की ध्वनि सुनाई पड़ती है। अन्याय एवं असमानता के प्रति प्रलयकारी विद्रोही की घोषण सुनाई पड़ती है और विषमताओं, विभेदों एवं विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करने की तीव्र गर्जना सुनाई पड़ती है।

जिस प्रकार निराला का जीवन नाना प्रकार की असंगतियों, असमानताओं एवं द्वंद्वपूर्ण परिस्थितियों से परिपूर्ण रहा है, उसी तरह उनकी अनुभूति भी विषमता, विविधता एवं असंगतियों के साथ-साथ द्वन्द्व से परिपूर्ण दिखाई देती है। निराला को परिस्थितियों के घात-प्रतिघात ने एक उद्‌बुद्ध, सचेत एवं जाग्रत कलाकार के रूप में ढाल दिया था, उन्हें जीवन और जगत के प्रति गम्भीरता के साथ सोचने एवं समझने के लिए विवश किया था और उन्हें अन्याय, अत्याचार एवं असमानता के विरूद्ध आवाज बुलन्द करने के लिए प्रेरित किया था। निराला का कवि तत्कालीन मानवता पर होने वाले अनवरत अत्याचारों से कराह उठा था। मानव की पीड़ा ने उसे व्यथित एवं बेचैन बना दिया था और दीनता एवं कातरता ने उनके हृदय में गहन-वेदना, टीस, छटपटाहट एवं आक्रोश को कूट-कूटकर भर दिया था, इसीलिए निराला ने ऐसे काव्य का सृजन किया है जिसमें क्रान्ति एवं विद्रोह का स्वर मुखरित हो रहा है। जिसमें समाज की व्यथा एवं वेदना को स्थान मिला है और जिसमें विषमता से पीड़ित मानवता की छटपटाहट अंकित है। यह बात कवि की रचनाओं के अनुशीलन से पूर्णत: स्पष्ट हो जाती है।

कवि निराला 'बादल राग' में बादल से समाज में नवक्रान्ति उत्पन्न करने के लिए मानवों के हृदय में उथल-पुथल एवं हलचल मचाने का आग्रह करता है। ऐसे ही दूसरे बादल-राग में कवि विप्लव के नवजलधर से यह अनुरोध करता है कि वह समाज में विषमता उत्पन्न करने वाले एवं विश्व वैभव को लूट-लूटकर एकत्र करने वाले पत्र-पुष्प-पादक जैसे धनिकों एवं शोषकों को छिन्न-भिन्न कर उन पर अपने प्रचण्ड वज्रघोष से आतंक स्थापित करें तथा भय के इस मायामय आंगन में विप्लवकारी गर्जन करें और तीसरे बादल-राग में निराला सारे विश्व में नवजीवन भरकर भारत में भी नवजीवन का संचार करने के लिए बादल से भारत में उतरने का आग्रह करते हैं। इसके अतिरिक्त कवि अपने बादल-गीत में भारत के जीर्ण-शीर्ण किसानों की दयनीय स्थिति पर आँसू बहाते हुए बादल से अनुरोध करता है-

हे बज्रगर्जन के धनी एवं विप्लव के वीर बादलों
तुम भारत के इन भयभीत,
नयन-सुख ढाँपे हुए
जीर्ण बाहु एवं शीर्ण शरीर कृषकों की पुकार को सुनकर
यहाँ विप्लव मचाने के लिए अवश्य पधारो
तुम तो विप्लव के वीर हो
अरे! देखो तो यहाँ पर इन बेचारे कृषकों का

राला हिन्दी साहित्य के एक ऐसे कवि है जिनकी रचनाओं में तत्कालीन मानव की पीड़ा, परतन्त्रता एवं परवशता के प्रति उत्पन्न तीव्र आक्रोश की ध्वनि सुनाई पड़ती है। अन्याय एवं असमानता के प्रति प्रलयकारी विद्रोही की घोषण सुनाई पड़ती है और विषमताओं, विभेदों एवं विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करने की तीव्र गर्जना सुनाई पड़ती है।

जिस प्रकार निराला का जीवन नाना प्रकार की असंगतियों, असमानताओं एवं द्वंद्वपूर्ण परिस्थितियों से परिपूर्ण रहा है, उसी तरह उनकी अनुभूति भी विषमता, विविधता एवं असंगतियों के साथ-साथ द्वन्द्व से परिपूर्ण दिखाई देती है। निराला को परिस्थितियों के घात-प्रतिघात ने एक उद्‌बुद्ध, सचेत एवं जाग्रत कलाकार के रूप में ढाल दिया था, उन्हें जीवन और जगत के प्रति गम्भीरता के साथ सोचने एवं समझने के लिए विवश किया था और उन्हें अन्याय, अत्याचार एवं असमानता के विरूद्ध आवाज बुलन्द करने के लिए प्रेरित किया था। निराला का कवि तत्कालीन मानवता पर होने वाले अनवरत अत्याचारों से कराह उठा था। मानव की पीड़ा ने उसे व्यथित एवं

कवि निराला की दृष्टि से तत्कालीन जीवन का कोई अंग अछूता नहीं रहा है। उन्होंने तीव्र व्यंग्यों का प्रहार करते हुए तत्कालीन सामाजिक चेतना को ही नहीं झकझोरा है, अपितु तथाकथित प्रगतिशील विचारधारा से ओतप्रोत नेताओं एवं समाज सेवियों पूंजीपतियों, बौद्धिक विकास में लीन अवसरवादियों शोषक, जमींदारों एवं धनिकों आदि की भी खूब खबर ली है। कुकुरमुत्ता, नये पत्ते, बेला, अणिमा आदि काव्य संग्रहों में कवि की यह व्यंग्यात्मक प्रवृत्ति अधिक तीव्र एवं प्रखर हो उठी है। जिसके परिणामस्वरूप कवि 'कुकुरमुत्ता' कविता में उच्चवर्ग के उन शोषक पूंजीपतियों पर बरस पड़ा है, जो मजदूर एवं किसानों की खून-पसीने की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाते है और उनकी तनिक भी परवाह नहीं करते।

बेचैन बना दिया था और दीनता एवं कातरता ने उनके हृदय में गहन-वेदना, टीस, छटपटाहट एवं आक्रोश को कूट-कूटकर भर दिया था, इसीलिए निराला ने ऐसे काव्य का सृजन किया है जिसमें क्रान्ति एवं विद्रोह का स्वर मुखरित हो रहा है। जिसमें समाज की व्यथा एवं वेदना को स्थान मिला है और जिसमें विषमता से पीड़ित मानवता की छटपटाहट अंकित है। यह बात कवि की रचनाओं के अनुशीलन से पूर्णत: स्पष्ट हो जाती है।

कवि निराला 'बादल राग' में बादल से समाज में नवक्रान्ति उत्पन्न करने के लिए मानवों के हृदय में उथल-पुथल एवं हलचल मचाने का आग्रह करता है। ऐसे ही दूसरे बादल-राग में कवि विप्लव के नवजलधर से यह अनुरोध करता है कि वह समाज में विषमता उत्पन्न करने वाले एवं विश्व वैभव को लूट-लूटकर एकत्र करने वाले पत्र-पुष्प-पादक जैसे धनिकों एवं शोषकों को छिन्न-भिन्न कर उन पर अपने प्रचण्ड वज्रघोष से आतंक स्थापित करें तथा भय के इस मायामय

राला हिन्दी साहित्य के एक ऐसे कवि है जिनकी रचनाओं में तत्कालीन मानव की पीड़ा, परतन्त्रता एवं परवशता के प्रति उत्पन्न तीव्र आक्रोश की ध्वनि सुनाई पड़ती है। अन्याय एवं असमानता के प्रति प्रलयकारी विद्रोही की घोषण सुनाई पड़ती है और विषमताओं, विभेदों एवं विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करने की तीव्र गर्जना सुनाई पड़ती है।

जिस प्रकार निराला का जीवन नाना प्रकार की असंगतियों, असमानताओं एवं द्वंद्वपूर्ण परिस्थितियों से परिपूर्ण रहा है, उसी तरह उनकी अनुभूति भी विषमता, विविधता एवं असंगतियों के साथ-साथ द्वन्द्व से परिपूर्ण दिखाई देती है। निराला को परिस्थितियों के घात-प्रतिघात ने एक उद्‌बुद्ध, सचेत एवं जाग्रत कलाकार के रूप में ढाल दिया था, उन्हें जीवन और जगत के प्रति गम्भीरता के साथ सोचने एवं समझने के लिए विवश किया था और उन्हें अन्याय, अत्याचार एवं असमानता के विरूद्ध आवाज बुलन्द करने के लिए प्रेरित किया था। निराला का कवि तत्कालीन मानवता पर होने वाले अनवरत अत्याचारों से कराह उठा था। मानव की पीड़ा ने उसे व्यथित एवं बेचैन बना दिया था और दीनता एवं कातरता ने उनके हृदय में गहन-वेदना, टीस, छटपटाहट एवं आक्रोश को कूट-कूटकर भर दिया था, इसीलिए निराला ने ऐसे काव्य का सृजन किया है जिसमें क्रान्ति एवं विद्रोह का स्वर मुखरित हो रहा है। जिसमें समाज की व्यथा एवं वेदना को स्थान मिला है और जिसमें विषमता से पीड़ित मानवता की छटपटाहट अंकित है। यह बात कवि की रचनाओं के अनुशीलन से पूर्णत: स्पष्ट हो जाती है।

कवि निराला 'बादल राग' में बादल से समाज में नवक्रान्ति उत्पन्न करने के लिए मानवों के हृदय में उथल-पुथल एवं हलचल मचाने का आग्रह करता है। ऐसे ही दूसरे बादल-राग में कवि विप्लव के नवजलधर से यह अनुरोध करता है कि वह समाज में विषमता उत्पन्न करने वाले एवं विश्व वैभव को लूट-लूटकर एकत्र करने वाले पत्र-पुष्प-पादक जैसे धनिकों एवं शोषकों को छिन्न-भिन्न कर उन पर अपने प्रचण्ड वज्रघोष से आतंक स्थापित करें तथा भय के इस मायामय आंगन में विप्लवकारी गर्जन करें और तीसरे बादल-राग में निराला सारे विश्व में नवजीवन भरकर भारत में भी नवजीवन का संचार करने के लिए बादल से भारत में उतरने का आग्रह करते हैं। इसके अतिरिक्त कवि अपने बादल-गीत में भारत के जीर्ण-शीर्ण किसानों की दयनीय स्थिति पर आँसू बहाते हुए बादल से अनुरोध करता है-

हे बज्रगर्जन के धनी एवं विप्लव के वीर बादलों
तुम भारत के इन भयभीत,
नयन-सुख ढाँपे हुए
जीर्ण बाहु एवं शीर्ण शरीर कृषकों की पुकार को सुनकर
यहाँ विप्लव मचाने के लिए अवश्य पधारो
तुम तो विप्लव के वीर हो
अरे! देखो तो यहाँ पर इन बेचारे कृषकों का

राला हिन्दी साहित्य के एक ऐसे कवि है जिनकी रचनाओं में तत्कालीन मानव की पीड़ा, परतन्त्रता एवं परवशता के प्रति उत्पन्न तीव्र आक्रोश की ध्वनि सुनाई पड़ती है। अन्याय एवं असमानता के प्रति प्रलयकारी विद्रोही की घोषण सुनाई पड़ती है और विषमताओं, विभेदों एवं विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करने की तीव्र गर्जना सुनाई पड़ती है।

जिस प्रकार निराला का जीवन नाना प्रकार की असंगतियों, असमानताओं एवं द्वंद्वपूर्ण परिस्थितियों से परिपूर्ण रहा है, उसी तरह उनकी अनुभूति भी विषमता, विविधता एवं असंगतियों के साथ-साथ द्वन्द्व से परिपूर्ण दिखाई देती है। निराला को परिस्थितियों के घात-प्रतिघात ने एक उद्बुद्ध, सचेत एवं जाग्रत कलाकार के रूप में ढाल दिया था, उन्हें जीवन और जगत के प्रति गम्भीरता के साथ सोचने एवं समझने के लिए विवश किया था और उन्हें अन्याय, अत्याचार एवं असमानता के विरूद्ध आवाज बुलन्द करने के लिए प्रेरित किया था। निराला का कवि तत्कालीन मानवता पर होने वाले अनवरत अत्याचारों से कराह उठा था। मानव की पीड़ा ने उसे व्यथित एवं बेचैन बना दिया था और दीनता एवं कातरता ने उनके हृदय में गहन-वेदना, टीस, छटपटाहट एवं आक्रोश को कूट-कूटकर भर दिया था, इसीलिए निराला ने ऐसे काव्य का सृजन किया है जिसमें क्रान्ति एवं विद्रोह का स्वर मुखरित हो रहा है। जिसमें समाज की व्यथा एवं वेदना को स्थान मिला है और जिसमें विषमता से पीड़ित मानवता की छटपटाहट अंकित है। यह बात कवि की रचनाओं के अनुशीलन से पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है।

कवि निराला 'बादल राग' में बादल से समाज में नवक्रान्ति उत्पन्न करने के लिए मानवों के हृदय में उथल-पुथल एवं हलचल मचाने का आग्रह करता है। ऐसे ही दूसरे बादल-राग में कवि विप्लव के नवजलधर से यह अनुरोध करता है कि वह समाज में विषमता उत्पन्न करने वाले एवं विश्व वैभव को लूट-लूटकर एकत्र करने वाले पत्र-पुष्प-पादक जैसे धनिकों एवं शोषकों को छिन्न-भिन्न कर उन पर अपने प्रचण्ड वज्रघोष से आतंक स्थापित करें तथा भय के इस मायामय आंगन में विप्लवकारी गर्जन करें और तीसरे बादल-राग में निराला सारे विश्व में नवजीवन भरकर भारत में भी नवजीवन का संचार करने के लिए बादल से भारत में उतरने का आग्रह करते हैं। इसके अतिरिक्त कवि अपने बादल-गीत में भारत के जीर्ण-शीर्ण किसानों की दयनीय स्थिति पर आँसू बहाते हुए बादल से अनुरोध करता है-

हे बज्रगर्जन के धनी एवं विप्लव के वीर बादलों

राजेन्द्र परदेसी, 44–शिव विहार, फरीदीनगर, लखनऊ–226015
मो. : 9415045584, ई–मेल : rajendrapardesi66@gmail.com

✧ ✧ ✧

बेगानेपन, आत्म-विच्युति और विस्थापन के प्रतिरोध की कहानियाँ

संजय कुमार सिंह

कहना नहीं होगा कि अपने समय के आतंक और संत्रस से उदय प्रकाश की कहानियाँ मुठभेड़ करती हैं और अपने प्रतिरोध में रचनात्मक स्तर पर नए मिथों का निर्माण करती हैं। अरेबा, परेबा, तिरिछ, टेपचू, नेलकटर, हीरालाल का भूत, पॉल गोमरा का स्कूटर जैसी कहानियों में यथार्थ की पुनर्रचना एक तरह से सृजनात्मक स्तर पर पूरे दिक्-काल में जीवन का पुनर्प्रसव है। हम उदय प्रकाश की कहानियों को इसलिए भी पसंद करते हैं कि वहाँ इतिहास और स्मृति का पूरा प्रकल्प समय-समाज के यथार्थ के साथ डायल्यूट होकर आता है।

उदय प्रकाश की शिल्प-संरचना और उसकी अतर्वस्तु को टुकड़े में न देखकर घटक-तत्वों के रचनात्मक समवाय में देखने से अर्थ का वह अनिश्चित स्पेश हमारे सामने खुलता है, जहाँ वे एक खाँटी देशी कथाकार के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं। उनका रचनात्मक अवधान अपनी प्रक्रिया में यथार्थ के उत्स से कलात्मक उपाख्यान उपस्थित करता है। स्वप्न और कल्पना की वह सर्जनात्मक दुनिया तब परम विश्वसनीय लगती है। चाहे नेल कटर हो कि अरेबा, परेबा। दिल्ली की दीवार, जजसाहब, मैंगोसिल, तिरिछ, टेपचू... हर साँस निर्मल वर्मा के 'परिन्दे' की तरह मृत्यु का अतिक्रमण करती है। संघर्ष और जिजीविषा का यह अद्‌भुत द्वन्द्व हमारी मानवीय आस्था को प्रतिरोध की ऐसी आत्म-शक्ति से भर देता है, जहाँ हमारी सहानुभूति उस सरोकार से हमारा साक्षात्कार करती है कि हम बेचैन हो जाते हैं। दृष्टि-बिन्दु का यही तनाव उदय प्रकाश की कहानियों को वायवीयता से बचाकर पाठक की चेतना को झकझोरता है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि जैसे ही रूपक का ढाँचा संवेदना और विचार के स्तर पर आत्मपूर्ण ग्रहणशीलता की प्रक्रिया में टूटता है हमें उन पात्रों और चरित्रें की त्रासदी समझ में आने लगती है। मैंगोसिल की पीड़ा हो कि गायब होते जजसाहब... कि दिल्ली की दीवार

कहानी के पात्रों और चरित्रों की अनुपस्थिति...एक तलाश हाण्ट करती है हमारे अन्दर। समय-समाज का दरकता यथार्थ हमें विचलित करने लगता है। कहानीकार की तरह उन्हें बचाने की जिद्द पैदा होती है।

कहना नहीं होगा कि अपने समय के आतंक और संत्रास से उदय प्रकाश की कहानियाँ मुठभेड़ करती हैं और अपने प्रतिरोध में रचनात्मक स्तर पर नए मिथों का निर्माण करती हैं। अरेबा, परेबा, तिरिछ, टेपचू,नेलकटर, हीरालाल का भूत, पॉल गोमरा का स्कूटर जैसी कहानियों में यथार्थ की पुनर्रचना एक तरह से सृजनात्मक स्तर पर पूरे दिक्-काल में जीवन का पुनर्प्रसव है। हम उदय प्रकाश की कहानियों को इसलिए भी पसंद करते हैं कि वहाँ इतिहास और स्मृति का पूरा प्रकल्प समय-समाज के यथार्थ के साथ डायल्यूट होकर आता है। 'वॉरेन हेस्टिंग्स का साँढ़' हो कि 'पाल गोमरा का स्कूटर' या महोहनदास, पीली छतरी वाली, 'और अंत में प्रार्थना' आप इन कहानियों को इकहरे स्तर पर नहीं ले सकते। भूमंडलीकरण और बाजारवाद के पीछे की कुरूप मंशा यहाँ छिपी नहीं रहती। आर्थिक उपनिवेशवाद की पूरी षडयंत्रकारी दुरभि-संधि भी दिखेगी। इसके लिए दुनिया के सामाजिक-सांस्कृतिक वैविध्य को नष्ट कर सूचना प्रोद्योगिकी का वह वर्चस्व दिखेगा, जिसके प्रतिरोध के बिना अपने आप्त-लोक को बचाना संभव नहीं। उदय प्रकाश के प्रतिरोध को केवल तथ्यों के साक्ष्यों में ही नहीं बल्कि स्वप्न और कल्पना के उस अनंत विस्तार में भी देखा जाना चाहिए, जहाँ जीवन के पक्ष में वे नश्वरता को जीतने की कोशिश करते हैं और हम अमरत्व के अहसास से भर जाते हैं। यहीं उनकी संवेदना अपने सजीव पिण्ड में विचार के पूरे ब्रह्माण्ड को छूती है। इस दृष्टि से अगर अरेबा, परेबा, नेल कटर, दरियाई घोडा, मूँगा, धागा और आम का बौर जैसी कहानियों को विश्लेषित किया जाए तो उनकी ऊँचाई का आभास हो जाता है, गहरी मानवीय संवेदना और आत्म-राग के अहसास से लबरेज इन कहानियों में कहानीकार संबंधों के उस नैसर्गिक संसार को रचना का उत्स बनाता है, जिसके बिना आदमी के होने का औचित्य नहीं सिद्ध हो सकता। एक तरल जीवद्रव यहाँ रिसता है इन कहानियों से, जो पाठक की स्मृति और चेतना में कुछ अपूर्व सृष्ट करता है। दरियाईघोड़ा का मुन्ना जब स्टेशन पर दादा के लिए फूट-फूट कर रोता है, तब एक कहानी बनती है, उस कहानी के भीतर बचपन की कई कहानियों को मिस करने की पीड़ाएँ होती हैं। दरियाईघोड़ा बनने की कहानी! हनुमान बनने की कहानी! स्मृतियों की एक पूरी दुनिया है वहाँ, जीवन से अन्यतम लगाव क्योंकि दादा बीच का खंभा हैं, जिनसे परिवार की डोर बंधी है... नैरेटर जानता है, डोर टूटने से चीजें छितरा जाएँगी।यही पीड़ा ''मूंगा, धागा और आम के बौर में भी है, जहाँ आसन्न मृत्यु के संत्रस में एक पूरी दुनिया आत्म-निर्वासित दिखती है। यह निर्वासन यह सूनापन जीवन के प्रति आत्यंतिक लगाव से और घनीभूत हो जाता है। मैं कहानी में फैले-पसरे उस निर्वात भूरी उदासी को कहानी का मर्म नहीं मानता बल्कि पीड़ा के उस अनुभव

को जीवन के प्रति अटूट सम्मोहन में छटपटाता हुआ देखता हूँ, जहाँ पिता की आसन्न मृत्यु में एक संवेदनशील और संभावनाशील रागात्मक दुनिया विखंडित होने वाली है। उदय प्रकाश निराशा या मृत्यु की गहन त्रासदी की कहानी ने लिख कर अपने विलोम में जीवन को केंद्र में रखते हैं। यह तड़प यथार्थ में, स्मृति में हर कहीं जीवन के लिए है। यहँ अराग का नहीं राग का लोक है। इस दंश को बिच्छू के मुँह में नहीं, पूँछ में देखा जाना चाहिए। मेरा मतलब है मृत्यु-बोध में नहीं जीवन-बोध में। उलटबाँसी की तरह अपने अर्थ-बोध में ये कहानियाँ हमें भरमाती हैं, पर इनका अर्थ इनकी कुंडली खुलने पर पता चलता है। इन कहानियों को अगर हम कहानीकार के रचना-धर्म की अनंत संभावनाओं के रूप में लें, तो आगे जाकर हमारा साक्षात्कार उस विचार और संवेदना के विराट विस्तार से होता है।ऐसी ही उनकी एक सर्वाधिक चर्चित कहानी मैंगोसिल है। यह किसी अबूझ या रहस्यमय बीमारी से होने वाली मौत की कहानी न होकर, भूख, गरीबी और कुपोषण के शिकर बच्चों की तीसरी दुनिया के भीतर की तीसरी दुनिया की त्रासदी की कहानी है, जिन्हें उनके दिक् और काल से विस्थापित कर वहाँ अमीरजादों की नई दुनिया बनायी जा रही है। गरीबों को लगतार जानवरों की तरह हाँक कर विकास का तांडव किया जा रहा। इसलिए सूरी अपनी बीमारी का विश्लेषण मारक ढंग से करता है, ''मैंगोसिल नाम का यह रोग जिस वायरस से पैदा होता है, मालूम है उस वॉयरस का क्या नाम है?...गरीबी!'' पेज नं.-121 मैंगोसिल। यह लोक-तंत्र में हाशिये पर नारकीय जीवन जी रहे लोगों के दुख, पीड़ा, घुटन, संत्रास, बेचैनी और विस्थापन की कहानी है, जिसे विश्व बाजार की पूँजी रोज उजाड़ रही। जहाँगीरपुरी जैसे इलाके का बदलता स्वरूप इसका उदाहरण है। चीटियों के प्रतिरूप में बदलते ये अमानवीकरण के शिकार प्रतिरूप! मगर उदय प्रकाश की कहानियों के मूल तनाव में उनके प्रतिरोध को देखा जाना चाहिए। सूरी की निश्चित मृत्यु के बीच अमरकांत में भविष्य के उस स्वप्न को वे बचाते हैं। चंद्रकांत, शोभा, नैरेटर जैसे लाखों लोग तो हैं ही वहाँ इस क्रूरता और पाशविक हिंसा को भोगने के लिए... दिल्ली की दीवार कहानी का भी यही दर्द है, जहाँ ऐसे लोगों की निर्वाक अनुपस्थिति उस धरती पर एक गीला निशान बन कर रह जाती है, फिर न उनका इतिहास होता है और न भूगोल! ''मैंगोसिल में नैरेटर इसी बात को यूँ कहता है, ''यह किस्सा चन्द्रकांत थोराट का है और मेरा भी है... इसमें कुछ ऐसे पात्र हैं, जो अपने दिक् और काल से बाहर फेंक दिए गए हैं और अब वे किसी प्रलय की प्रतीक्षा में हैं। मैं भी उन्हीं कुछ ऐसे पात्रों में से एक हूँ, जो अपने दिक् और काल के बाहर, किसी मलिन बस्ती में नागर सभ्यता से दूर रहते हैं। अलग-अलग सत्ताओं द्वारा अधिग्रहीत कर ली गयी धरती पर किसी उपनगर में जीवन बिताने की चेष्टाएँ भी, किसी एक अभागे दिन, किसी टाउनप्लानर, दलाल या कोई कोलोनाइजर के नक्शे में दिखायी दे जाती हैं। पूँजी और सत्ता के हर रोज फैलते साम्राज्य की अभियांत्रिकी के बुल्डोजर्स किसी दिन किसी मेट्रो रेल, फलाईओवर, किसी शापिंग मॉल,

बाँध, खदान, उद्योग या किसी पाँच-सात सितारा होटल के रूप में, उस मलिन बस्ती में भी पहुँचते हैं और वहाँ चन्द्रकान्त थोरॉट जैसा जीवन समाप्त हो जाता है... चन्द्रकांत थोराट मेरा दोस्त है। इस किस्से का वह एक पात्र है। मेरा जीवन उसके जीवन के साथ किसी नियति की तरह जुड़ा हुआ है। मैं अगर नहीं भी चाहूँ, तब भी। पेज नं.-65 मैंगोसिल। यह उस जैसे जीवन की बाध्यता है, जो विस्थापन की अमानवीय नियति से जुड़ी है, पर किन मुठ्ठी भर लोगों की सुख-सुविधाओं और भोग-विलास के लिए पूँजी और निरंकुश स्वैच्छाचारी अर्थलोलुप सत्ता के गठजोड़ से चन्द्रकांत थोराट जैसे लाखों करोड़ों लोगों, उनकी बस्तियों, जंगलों, पहाड़ों, नदियों को विध्वस्त किया जा रहा? मैंगोसिल का केंद्रीय तनाव यही है। सूरी ने आत्महत्या की कि उन उत्पादों ने चायनीज रिवाल्वर के रूप में उसकी हत्या कर दी? खैर जो भी हो, मैंगोसिल के लम्बे उद्धरण कोट करने के पीछे अपने समय-समाज के यथार्थ की भयावह अमानवीय तस्वीर रखनेवाले कहानीकार उदय प्रकाश की रचना-दृष्टि पर फोकस करना ही मेरा उद्देश्य रहा है। इस कहानी की दृष्टि-बिन्दु का तनाव इस अमानवीय अभियान का प्रतिरोध नहीं तो क्या है? यथार्थ की ठोस जमीन पर खड़ी उनकी कहानियों को कोई ठप्पा लगा कर उनकी जगह से उचकाया नहीं जा सकता। अगर प्रसिद्ध विचारक और चिंतक अजीत राय कहते हैं कि हिन्दी में अगर नोबेल प्राइज मिलेगा, तो उदय प्रकाश को मिलेगा। उनसे बड़ा लेखक हिन्दी में कोई नहीं, तो इसमें आश्चर्य क्या है? भारतीय सामाजिक जीवन की विसंगति और विडम्बना का समग्र यथार्थ उनकी कहानियों में विभिन्न जटिल और अंतर्विरोधी संदर्भों के साथ उपस्थित होता है। इन संदर्भों में कहानीकार का एप्रोच क्या है, इसे लाक्षणिक स्तर पर उनके प्रथम कहानी-संग्रह में संकलित 'दद्दू तिवारी:गणना अधिकारी' के माध्यम से समझा जा सकता है कि जिसका जुड़ाव अपनी जड़ और जमीन से नहीं होता, उसका कोई पक्ष नहीं होता। वह अपने समय-समाज से कट जाता है, उसके लिए, वह जमीन...वे लोग नहीं उठते। यह बीज-चेतना है उनकी रचना-धर्मिता की। इसी कन्सर्न का विराट विस्तार उनकी कहानियों में उनको मानवीय स्तर पर आम आदमी के दुख-तकलीफ से जोड़ता है। उन लोगों के आत्म-संघर्ष और उनकी अकूत जिजीविषा को टेपचू, पुतला, हीरालाल का भूत जैसी अन्य अनेक कहानियों में देखा जा सकता है। नि:संदेह उदय प्रकाश को यथार्थ को कहानियाँ रचने में कलात्मक सिद्धि प्राप्त है।

संजय कुमार सिंह, प्रिंसिपल, पूर्णियाँ महिला कॉलेज, पूर्णियाँ–854301
मो. : 9431867283

✧ ✧ ✧

आलेख

कनरपी घाट का युद्ध और जंगनामा : एक तुलनात्मक विमर्श

डॉ. सत्य प्रिय पाण्डेय

इस रचना के प्रारम्भ में ही कवि लाल का नाम आया है, संभव है यही इसके रचनाकार हों। ये मिथिला के ही किसी ब्राम्हण की लिखी रचना है, ऐसा ग्रियर्सन का मानना है।2 बहरहाल यह रचना कई दृष्टि से महत्वपूर्ण है। एक तो यह कि इसमें क्षत्रियों की विविध शाखाओं का वर्णन हुआ है जो कि वंशावली के अनुरूप है और दूसरे इसमें तत्कालीन खान - पान, पहनावा, वेशभूषा, खाद्य सामग्री, युद्ध सामग्री, घोड़े की विविध प्रजाति आदि का बड़ा ही सुंदर वर्णन हुआ है, मसलन क्षत्रियों की विविध शाखाओं का नाम इस प्रकार है।

यों तो युद्ध और प्रशस्ति वर्णन आदिकालीन साहित्य की विशेषता रही है यही कारण है कि उन रचनाओं में राजा के युद्ध प्रयाण और उनके शौर्य का बड़ा ही रोमांचकारी वर्णन प्राप्त होता है। यह परम्परा बाद तक भी चलती रही। यों भी साहित्य की कोई प्रवृत्ति अचनाक समाप्त नहीं हो जाती है बल्कि वह दब जाती है और अनुकूल अवसर पाकर पुनः उभर उठती है। इसलिए अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी तक वीरता और युद्ध वर्णन पर आधारित ग्रन्थ लिखे जाते रहे। इसी तरह की एक रचना है कनरपी घाट का युद्ध वर्णन और दूसरी है श्रीधर कृत जंगनामा। यों तो दोनों कृतियों में कालक्रम का पर्याप्त अंतर है किन्तु दोनों में कई तरह की समानताएँ हैं जिनका वर्णन करना ही मेरा अभीष्ट है। युद्ध वर्णन दरअसल कोरा युद्ध वर्णन भर ही नहीं होता था बल्कि उसमें सम्बंधित राजा की श्री वृद्धि और उसके साम्राज्य के प्रभाव का भी वर्णन किया जाता था यह एक तरह की काव्यरूढ़ि कही जा सकती है वैसे ही जैसे महाकाव्य में मंत्र, दूत, नगर, प्रकृति आदि का वर्णन आवश्यक था। कनरपी घाट का युद्ध दरभंगा के दो राजाओं नरेन्द्र सिंह और रामनारायण भूप के बीच लड़ा गया था जिसमें नरेन्द्र सिंह की विजय हुई थी। वे बड़े ही प्रतापी राजा थे। उनकी चर्चा चन्द्र झा ने अपने ' मैथिल रामायण' में इस प्रकार की है कि -

नृपति नरेन्द्र सिंह भेल जखन ,
अरि घर कानन पसरल तखन।
ताकि ताकि सत्रुक संघार ,
केलन्हि बहुत छात्र व्यबहार।
कतहुं जुद्धि नहिं ऐलाह हारि ,
अतिसय तेज तनिक तरुआरि।।1

इस रचना के प्रारम्भ में ही कवि लाल का नाम आया है, संभव है यही इसके रचनाकार हों। ये मिथिला के ही किसी ब्राम्हण की लिखी रचना है, ऐसा ग्रियर्सन का मानना है।2 बहरहाल यह रचना कई दृष्टि से महत्वपूर्ण है। एक तो यह कि इसमें क्षत्रियों की विविध शाखाओं का वर्णन हुआ है जो कि वंशावली के अनुरूप है और दूसरे इसमें तत्कालीन खान-पान, पहनावा, वेशभूषा, खाद्य सामग्री, युद्ध सामग्री, घोड़े की विविध प्रजाति आदि का बड़ा ही सुंदर वर्णन हुआ है, मसलन क्षत्रियों की विविध शखाओं का नाम इस प्रकार है- राउत, राजपूत, बैस, बुनेला, चनेला, बघेला, चौभान, बिसेन, रायठौर (राठौर) हाड़ा, कछवाहा, सिलाहा, अरिदम्भा, निकुम्भा, गन्हवरिया, सेंगर, परिबाहा, हैहरबाहा, हैहयवंशी, भीम, गौतम, बिजहरिया, सरबरिया, रघुवंशी, गौड़ा, बछगोती, गहड़वार, कंदा, बड़गैयाँ, करचोउलिया, सगरबार, गोड़, अमैठी, तोमर, गह्वौता, गूजर, रानाबंशी, सिघौरिया, मौनस बिजहरिया नगपुरिया, बड़ मंहरौड़ी, सतौड़िया, करम्बार, पम्मार, कठेला, कटहरिया आदि-आदि।3 इस तरह विविध शाखाओं के क्षत्रिय युद्ध के लिए सन्नद्ध हुए और उसी के अनुसार उनके पास विविध प्रजातियों के घोड़े थे जिसमें क्रमशः तुरकी, अरबी इराकी, दरायी, खन्हारी, ताजी, मुजन्नस, पिठानी, जरद्दा, मुसुक्की, समुन्दा, हराबोग, सबजा, लीला, तीला, सुरक्खा, वलक्खा, पंचकल्याणी।4 इस तरह सभी सिपाहियों से सलामी लेकर राजा ने अपने खास घोड़े पर चढ़कर युद्ध के लिए प्रस्थान किया और उस समय बड़े ही शुभ और सगुन लक्षण उपस्थित हुए मसलन आकाश में क्षेमकरी पक्षी दिखाई पड़ी, मछली की पूंछ पर तिलक लगाकर और गणेश जी को प्रणाम करके वह युद्ध के लिए निकल पड़ा -

मच्छ पुच्छ के तिलक करि, पैन्ह कुसुम के माल।
कै प्रनाम बिघ्नेस कें, बहराने भूपाल।5

इस तरह ज्योतिष की बड़ी ही महत्वपूर्ण चर्चा आयी है मसलन युद्ध प्रयाण से लेकर आक्रमण करने तक में शुभाशुभ मुहूर्त एवं घड़ी का विचार किया जाता था जोगिनी के दाहिने होने को अत्यंत शुभ कहा गया है-

दाहिन जोगिन पीछे काल, धार फाड़े मुदई का गाल।।

राजा नरेन्द्र सिंह की फौज इतनी जबरदस्त थी कि उसके प्रस्थान से जो धूल उड़ी उसने सूर्य को ढँक लिया, धरती काँपने लगी। नरेन्द्र का इतना प्रताप था कि उनके प्रस्थान से दिल्ली, ढाका, कलकत्ता, काशी के राजा दहल गए, वे उनके आगे कहाँ ठहर सकते हैं -

धूली के दप्पें दिनकर झप्पैं मेदनि कम्पै को ठहरैं।
बीजापुर बंका औध सुरंका जित नृप संका जोग भरैं।।
डिल्ली सग्बग्गी कासी भग्गी बेतिया टग्गी को ठहरै।।6

मिथिला नरेश नरेन्द्र के राज में बड़ी सम्पन्नता थी। व्यापार, वाणिज्य बहुत ही संमृद्ध था। खान-पान की कोई कमी नहीं थी, बाजार सजे हुए थे और उसमें विवध प्रकार की वस्तुएँ बिक रहीं थीं, खाने पीने की विविध सामग्री से लेकर घोड़े, हाथी, ऊँट तक बाजार में बिक रहें हैं -

कहूँ कंद चीनी बिकै नोन गटा।
कि जाके चखे तें सुधा होत खटा।।
कहूँ तोसखाने लगी भीर भारी।
तुरंगें बिकै लच्छ कंछी खन्हारी।।
कहूँ मत्त मातंग ऊँटे घनेरा।
कहूँ चित्र लेखत खड़े हैं घनेरा।।
कहूँ दाख लाखैं कहूँ हैं छौहाड़ा,
कहूँ हौज में बेस छूटत फोहाड़ा,
कहूँ बादला साल बाफी दोसाला,
कहूँ लाल मोती बिकै कंठमाला।
कहूँ बाफदा थान खासा पोसाकी,
कहूँ नाहि जाने कोऊ मोल जा की।।7

बाजार का ऐसा ही वर्णन तुलसी ने मानस के रामराज्य प्रसंग में किया है जिसमें वे लिखते हैं कि-

बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुं कुबेर ते,
सब सुखी सब सच्चरित सुंदर नारि नर सिसु जरठ जे।।8

जहाँ एक तरफ बाजार की सम्पन्नता और समृद्धि का वर्णन है तो वहीं दूसरी तरफ रण कौशल और वीरता का भी अभूतपूर्व वर्णन किया गया है जिसे देखकर रामचरितमानस के लंकाकाण्ड की स्मृति ताजा हो उठती है- चारों तरफ रक्त की नदी बह रही थी मानों मिथिलेश (नरेन्द्र के पिता) के यहाँ रक्त की नदियाँ बह रही हों और उस रक्त से देवी कालिका अपने केश सँवार रही हों, दृश्य देखें-

सुमुंड कंज रक्त पानि ओ सेमार केस के।
नदी बही जहाँ तहाँ मैदान मीथिलेस के।
भयो फतेह बैरि जाल को निदान भोगिनी,
गयी अघाय खाय खाय गंड मुंड जोगिनी।।9

और यही नहीं, कवि की कल्पना उड़ान भरती है और वह देवासुर संग्राम तक पहुँच जाती है और वह लिखता है कि-

असेख मुंड माल जाल कालिका ले आउती,
कराल भूत साथ भूतनाथ को पेन्हाउती।।10

तुलसी की कवितावली में तो जोगिनियों ने न केवल आँतों की माला पहनी थी बल्कि वे उसके रक्त और मज्जा का सतुआ सान-सान कर खा रही थीं और तो और स्वयं भगवान भूतनाथ भूत बैतालों को साथ लिए युद्ध भूमि में अट्टहास कर रहे हैं -

ओझरी की झोरी काँधे,आंतनि की सेल्ही बांधे,
मूंड के कमंडल खपर किएँ कोरि कै।
....
श्रोनित सो सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।
तुलसी बैताल- भूत साथ लिए भूतनाथु,
हेरि-हेरि हँसत हैं हाथ-हाथ जोरि कै।।11

कहीं-कहीं तो भाषा का ऐसा चमत्कार प्रस्तुत किया गया है कि जिसके समक्ष भूषण और केशव का कवित्त भी फीका लगता है -

सुन्यो बिपच्छ पच्छ लच्छ धीरता तबै गयी,
धड़ा धड़ी हजार बार तोप की जबै भयी।
उठे अनोर घोर सोर ढाल की चटा चटी।

जहाँ तहाँ चहू दिसा क्रिपान की खटा खटी।।12

कनरपी घाट का यह युद्ध अत्यंत भयानक था लिहाजा जनता में आज भी इसकी स्मृति मौजूद है और कहा जाता है कि मिथिला में ऐसा कोई दूसरा युद्ध नहीं हुआ था। इस युद्ध के बारे में 'रमण अभिनन्दन ग्रन्थ' पुस्तक में लिखा है कि- कन्दर्पीघाट का यह युद्ध अत्यंत भयानक हुआ था। मिथिलांचल का यह प्रथम युद्ध है जिसमें दोनों पक्षों ने खुलकर भीषण आग्नेयास्त्रों का उपयोग किया। इस युद्ध ने मिथिला में एक नयी चेतना जगायी ....कहा जाता है कि युद्ध के बाद धूल और रक्त से सने 74 सेर जनेऊ तौले गए थे। आज भी मैथिल अपने गोपनीय पत्र पर 74 अंक लिख देते हैं। इसका अभिप्राय है कि नामित व्यक्ति के अतिरिक्त व्यक्ति के द्वारा पत्र पढ़ने पर उसे उतने ब्राह्मणों के वध का पाप लगेगा जितने लोग कन्दर्पीघाट युद्ध में मारे गए थे। आज भी कन्दर्पी परिक्षेत्र में हल चलाते समय किसानों को पवित्री (अष्टधातु का वलयाकार आभूषण जिसे यज्ञोपवीत के समय धारण किया जाता है) मिलते हैं। स्पष्ट है कि यह युद्ध काफी भीषण हुआ होगा।' 13 इस युद्ध की भयानकता का प्रमाण यह भी है कि इसमें विविध पकार की तोपों और गोले बारूदों का प्रयोग हुआ और आसमान में फुलझड़ियाँ छोड़ी गयीं, इन गोले बारूदों की ध्वनि

को कवि ने कितनी जीवन्तता से सुनाया है, जरा देखें-

दोऊ ओर फौजें भयी हैं तयारी।
तहाँ बीच दरम्यान दरिआओ भारी।।
चलै बान कम्मान गोला हजारे।
सभैं एक हो कै गिरै जो सितारे।।
छड़ीबान छूटै गजर के घड़ी सी।
छकी आसमानो लगी फुलझड़ी सी।।
पहुँच के बहेलिएँ ने गोली सैं मारी।

हटी जाय पीछे लटी फौज सारी।। 14 इसी तरह जंगनामा में श्रीधर ने दोनों दलों का बड़ा ही रोमांचकारी वर्णन किया है। एक तरफ फरूखसियर की सेना थी और दूसरी तरफ जहाँदार शाह की सेना थी। इन दोनों सेनाओं का आमना-सामना आगरे में हुआ, कवि लिखता है-

फरूखसियर शाहि जहाँदार शाहि दोऊ
आगरे अगारी अरे पातशाही हेत मै,
श्रीधर बजत मारू बाजे बाजे
मुड़ गई वागैं रहे केतक न चेत मै,
अंगद सो अडो पादशाहति पलटि डारयो
स्वी एतो आजम खां सवल वनैत मैं।
महा हव भारथ को कमनैती पारथ की,
जैसी भीम भुज बल भाख्यो कुरुषेत मैं।।15

कहीं - कहीं तो कवि से बड़ा ही अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन हुआ है-

श्रीधर शाहनशाह फरूखसियर नर
सातों दीप सरहद हिन्द के मिलायो है।।

फरूखसियर की प्रशंसा में कवि ने जैसे कलम ही तोड़ दी है-

कोऊ ढूँढो कोऊ दारू काहूँ में न गुन भारी,
कोऊ वारनारी वस में न आयो है।
सुंदर सूजियान सुजा शीलवन्त और जवान,
पूरो एक तोहि विधि नय बनायो है।।16

सेना प्रस्थान के समय यहाँ भी शकुन अपशकुन का वर्णन किया गया है-

दाहिने पर चील्ह सनमुख वाम बोल्यो काग है,
अरु गई काटि गली बिली, थित राउरीत धाराग हैं।
दिन करद माँझ उलूक बोलत, लूक टूट तरात हैं।

कहूं स्वान रोवत सुरनि सों कहुं स्यार गन फिकरात हैं।
मंडरात सिर पर गीध के गन्यो बढडो उतपात है।।17

जंगनामा में भी घोड़ों के विविध प्रजातियों का वर्णन इस रूप में हुआ है कि-

सजे पव्वरों भव्वरों लव्ध घेरे,
मनो भानु जी के रथी जोर गोरे,
चले जाइ सौं चंचले चाल वाकी,
दरयाई तुरुक्की तजीले ईरारैकी।
करैं पौन सी पौन की पायदारी,
अरब्बी गरब्बी क्सहुरीले षुरीले षंधारी।।
मुसुकी सजे पंचकल्यान पीले।।18

घोड़ों के इन विविध प्रकारों के वर्णन का तात्पर्य यह है कि भारत में इतने तरह के घोड़े मौजूद थे, जाहिर है वह काल घोड़े हाथियों की संमृद्धि का काल था और दुनिया भर के लोग भारत में घोड़े हाथी का क्रय विक्रय करने आते थे। और यही नहीं प्राचीन भारत में शालिहोत्र जैसा अश्व शास्त्र लिखा गया जिसमें घोड़ों की विविध प्रजातियों और उनके रोगों, उसकी औषधियों की बड़ी ही महत्वपूर्ण चर्चा की गयी है। मसलन यहाँ जिस पंचकल्याण घोड़े का वर्णन किया गया है उसके बारे में शालिहोत्र ग्रन्थ कहता है कि- जिस घोड़े के पाँव सफेद और मुख मध्यम होता है, उसे पंचकल्याण बोलते हैं, यह घोड़ा शुभ होता है। यही नहीं इस ग्रन्थ में अरबी, ईराकी आदि घोड़ो की चर्चा आयी है। लिखा है कि- इस देश में अरबी घोड़े बहुत कम आते हैं, क्योंकि यहाँ आने पर शीघ्र मर जाते हैं। यहाँ जो अर्बी घोड़े आया करते हैं वे ईरानी और अर्बी दोनों नस्ल के मिले हुए आते हैं। ....काबुली घोड़े भी बहुत प्रसिद्ध हैं, बहुधा सौदागर लोग इन्हें बेचने को लाया करते हैं। जो घोड़े ईराक से आते हैं वे ऐराकी कहलाते हैं। ये अपने डील डौल और बल के लिए बहुत प्रसिद्ध होते हैं।' 19 मुसुकी घोड़ा जिसकी चर्चा श्रीधर ने की है उसके बारे में शालिहोत्र में लिखा है कि- मुश्की घोड़ा काली कोयल से भी काला होता है।' 20 कवि श्रीधर ने जंगनामा में दोनों सेनाओं के रण कौशल का बड़ा ही ऊहात्मक वर्णन किया है और चमत्कार उत्पन्न करने के लिए इन्होंने भी भाषा की खासी तोड़ फोड़ की है, एक नमूना देखें -

इत गल गाजि चढडो फरूखसियर शाहि,
उत मौजदीन करि भारी भट भरती।
तोप की डकारनि सो बीर हहकारनी सों,
धौंसा की धोकारनि धमकि उठी धरती।
श्रीधर नवाब फरजंद खां सु जंग जुरे,
जोगिनी अघायो जुग जुगन की बरती।21

कहीं-कहीं तो कवि ने राजा की प्रशंसा में पलक पाँवड़े बिछा दिए हैं और दीनता की हद तक पहुँच गया है, जरा देखें -

श्रीधर भनत महाराज श्री छबीलेराम,
तेरे बैरी बांची काहू सूर की न सढ़ है।
जीत्यो चारो ओर मेरी फिकिर सो कीजै जोर,

ऐसे महाराज सों गहति गाढ़ो गढ़ है। 22 शिवाजी को अपने प्रति थोड़ा उदासीन देखकर कविवर भूषण ने भी शिवाजी के लिए कहा था कि-

तिहारे गुन गाऊं, तुम ढीले क्यों परत हौ?
और बाभनन देखि करत सुदामा सुधि,
मोहे देखि काहें सुधि भृगु की करत हौ।।23

दरअसल यह राज प्रशस्ति मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक देखी जा सकती है और ऐसा करना केवल काव्य रूढ़ि का निर्वाह मात्र नहीं था बल्कि कवियों की विवशता भी थी राजाओं और नवाबों को प्रसन्न रखने की क्योंकि यह उनकी रोजी रोटी से सीधे जुड़ा हुआ मामला था वर्ना श्रीधर कवि यह क्यों लिखते कि साढ़े तीन हाथ के राजा छबीलेराम दस हाथ के हाथी कूदकर चढ़ गए और उनके दो हाथ मानो दस हाथ हो गए हों-

जंग सुलतानी मै कहानी कैसो कीन्हों काम,
श्रीधर छबीलेराम राजा रन रग मैं।
साढ़े तीनि हाथ कद दस हथा हाथी चढडो,
दोई हाथ होत हैं हजार हाथ जंग मैं।।24

मुसलेहखान की वीरता की तुलना रामायण के अंगद और कुरुक्षेत्र के अर्जुन और भीम से करता हुआ कवि लिखता है कि-

अंगद सो अड़यो पातशाहति पलटि डारयो,
महा हुब भारथ की कमनैती पारथ की,
जैसे भीम भुजबल भाख्यो कुरुखेत मै।।
श्रीधर कृपान गहि मुसले खान रन,
कीन्हेव घमसान यों मसान हहरात हैं।25

यही नहीं, कहीं कहीं तो ऐसा लगता है कि तलवार और तेग से ज्यादा तेज कवि के शब्द लड़ रहे हैं, एक बानगी देखें-

भरा भरी गोलन की, झरा झरी तेग की,
कटारनि की कराकरी, तरातरी तीर की।26

इन दोनों रचनाओं का वैशिष्टड इस अर्थ में भी है कि इनमें विविध छंदों का प्रयोग किया

गया है, ये सभी छंद प्राय: वीर रस के वर्णन के लिए ही प्रयुक्त होते थे, मसलन नराच, भुजंग प्रयात, त्रिभंगी, दोहा, छप्पय आदि-आदि। इन रचनाओं का महत्व भाषा और छंद के साथ साथ इस अर्थ में भी है कि इसमें अपने समय का इतिहास भी मौजूद है, ऐसा इतिहास जो इतिहास को आईना दिखाने का काम करता है, इतिहास को करेक्ट करता है क्योंकि ये रचनायें जनमानस की स्मृतियों में मौजूद हैं और स्मृति इतिहास से ज्यादा प्रामाणिक और दीर्घजीवी होती है यही कारण है कि जो रचनायें लोक जनमानस की स्मृतियों में मौजूद होती हैं वे अजर अमर होती हैं, यही अमरता ही इनकी शक्ति का प्रमाण है।

सन्दर्भ :

1. The Battle of Kanarpi Ghat] edited and translated by Sri Narayan Singh] G- A- Grierson- Journal of the Asiatic society] 1885] Introduction] Page – 17.
2. वही, पृष्ठ- 16
3. कनरपी घाट लड़ाई, पृष्ठ- 21.
4. वही, पृष्ठ- 22
5. वही, पृष्ठ - 23
6. वही
7. वही, पृष्ठ - 24
8. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड
9. कनरपी घाट लड़ाई, पृष्ठ - 27
10. वही, पृष्ठ - 27
11. कवितावली, लंकाकाण्ड, राक्षस- वानर संग्राम
12. कनरपी घाट लड़ाई, पृष्ठ- 27
13. रमण अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ- 288, सम्पादक- डा महेंद्र नारायण राम
14. कनरपी घाट लड़ाई, पृष्ठ- 25
15. जंगनामा - श्रीधर कवि, वीरकाव्य, पृष्ठ- 358, सम्पादक -उदय नारायण तिवारी
16. वही
17. वही
18. वही
19. शालिहोत्र संहिता, हिंदी भाष्य - पृष्ठ - 23 - 26
20. पृष्ठ - 23 - 26।
21. जंगनामा - श्रीधर कवि, वीरकाव्य, पृष्ठ - सम्पादक -उदय नारायण तिवारी
22. वही, पृष्ठ - 356 - 357
23. शिवराज भूषण, महाकवि भूषण।
24. वही, पृष्ठ - 357
25. वही, पृष्ठ - 358
26. वही पृष्ठ - 359

डॉ. सत्य प्रिय पाण्डेय, लोक साहित्य विमर्शकार, पता– 13/258, ग्राउंड फ्लोर, वसुंधरा, गाजियाबाद, उ. प्र., पिन– 201012, मो. : 8750483224

✧ ✧ ✧

समकालीन काव्य में सांस्कृतिक स्वर

डॉ. जया आनंद

भारतीय समाज में पेड़ पौधे पर्वत नदी के महत्व को स्थापित करने के लिए उन्हें पूजनीय बनाया गया है और उन्हें विभिन्न आदर सूचक शब्दों से संबोधित किया है। नदी को मां कहना भारतीय संस्कृति में ही मिलता है। कुमार विकल की कविता में नदी को माँ कहकर संबोधित किया गया है। नदी और मनुष्य के बीच माता और पुत्र का संबंध होता है। प्रस्तुत कविता इसी संबंध से समाज को परिचित कराती है।

संस्कृति शब्द को परिभाषित करना कुछ कठिन अवश्य है पर गहराई से विश्लेषण करने पर संस्कृति का स्वरुप समझ आने लगता है। कोई भी समाज संस्कृति और सभ्यता के आधार पर टिका होता है। संस्कृति अनुभूति है, भाव है और सभ्यता उसका बाहरी कलेवर। रामधारी सिंह दिनकर ने कहा है ''जिस प्रकार फूलों के अंदर सुगंध छिपा रहता है उसी प्रकार संस्कृति का स्वरुप है।''

संस्कृति पर्व त्योहारों में समाहित मूल भाव है जहां प्रकृति के प्रति आदर भाव परिलक्षित होता है। संस्कृति पूजापाठ में निहित वो संवेदना है जो समाज को विनम्र होना सिखाती है। संस्कृति परिवार का वह तत्व है जहाँ लोग एक-दूसरे के लिए त्याग की भावना से अनुप्राणित होते हैं। संस्कृति साहित्य का वह मर्म है जहाँ सबके हित की भावना का अनुशीलन होता है।

संस्कृति अपने वाह्य कलेवरों से समाज को सुवासित करती रहती है। प्रकृति का आदर, बड़ों के प्रति सम्मान, छोटों के प्रति स्नेह, क्षमा का भाव, कर्तव्य बोध आदि हमारी संस्कृति के अंग हैं। इन्हें अक्षुण्ण रखने की महती इच्छा समकालीन आधुनिक कविता के स्वर में भी प्रस्फुटित होती है। वही तथाकथित संस्कृति के नाम पर रुग्ण परंपराओं के विरोध का स्वर भी दिखता है।

भारतीय समाज में पेड़ पौधे पर्वत नदी के महत्व को स्थापित करने के लिए उन्हें पूजनीय बनाया गया है और उन्हें विभिन्न आदर सूचक शब्दों से संबोधित किया है। नदी को मां कहना भारतीय संस्कृति में ही मिलता है। कुमार विकल की कविता में नदी को मां कहकर संबोधित किया गया है। नदी और मनुष्य के बीच माता और पुत्र का संबंध होता है। प्रस्तुत कविता इसी संबंध से समाज को परिचित कराती है।

पहाड़ पर आकर
कभी का तप हो गया है
किंतु हर्षित नहीं
कोई लोक गीत गा रही है
जैसे पर्व मना रही
कवि गीत को समझ नहीं पा रहा
केवल तप में बड़बड़ा रहा है
मां नदी मां मुझे थोड़ा सा बल दो
मेरी सूख रही जिजीविषा को जल दो

भारत में प्रत्येक ऋतु का सौंदर्य विद्यमान है किंतु बसंत ऋतु का आकर्षण विशेष होता है और उसका स्वागत भी विशेष रूप से किया जाता है। बसंत ऋतु में प्रकृति मुस्कुराती हुई प्रतीत होती है। सारा वातावरण हर्ष उल्लास में डूब जाता है। विद्या की देवी माँ सरस्वती का इस अवसर पर पूजन होता है। चाहे कोई आस्तिक हो या नास्तिक सभी मां सरस्वती के आगे नतमस्तक रहते हैं। आज की कविता इसके महत्व को भलीभांति व्यक्त करती है।

दूर कहीं पर अमराई में कोयल बोली
लगी परत चढ़ने झींगुर की शहनाई पर
वृक्ष वनस्पतियों की ठूठ शाखाओं में
पोर-पोर टहनी का लगा दहकने
शांति समीर, गुलाबी जाड़ा, धूप सुनहरी
जग वसंत की अगवानी में बाहर निकल
माँ सरस्वती ठौर ठौर पर पड़ी दिखाई
प्रज्ञा की उस देवी का अभिवादन करने
आस्तिक-नास्तिक सभी झुक गए, माँ मुस्काई

- (नागार्जुन)

भारत गाँवों का देश कहलाता है और यहाँ की संस्कृति में देसीपन की महक बिखरी पड़ी मिलती है। गांव में खुले-खुले मकानों को बनाने की परंपरा रही है। उन खुले मकानों में

चिपकी हुई धूप जो सुबह खपरैल से सरकती हुई पूरे आंगन में फैल जाया करती है महानगरीय सभ्यता में वह नहीं दिखती। यह पीड़ा कविता के माध्यम से व्यक्त हुई है।

धूप कहां गई
तू जो सुबह-सुबह मेरे खपरैल पर उतरती
कबूतर की तरह
और दीवार पर धीरे से सरकती हुई
आंगन में फैल जाती।

- रामदास मिश्र

इस देश में माता-पिता को ईश्वर से भी बढ़कर मानने की संस्कृति है। पिता बिना कुछ चाहे निश्छल भाव से बच्चों के लिए आजीवन करता रहता है। ऐसी अनूठी संस्कृति है इस देश की। प्रस्तुत कविता इस बात की ओर इंगित करती है।

पिता की छोटी-छोटी बहुत सी तस्वीर
पूरे घर में बिखरी है
उनकी आंखों में
कोई पारदर्शी चीज साफ चमकती है
वह अच्छाई है या साहस!!
मेरी अच्छाई ले लो
उन बुराइयों से जूझने के लिए
जो तुम्हें रास्ते में मिलेंगी
मेरी नींद मत लो मेरे सपने लो3

- मंगलेश डबराल

भारत की संस्कृति में मर्यादा, एक दूसरे के प्रति आदर भाव, परमार्थ, परोपकार की भावना, त्याग की भावना, एक दूसरे के प्रति मित्रता और स्नेह की भावना का समावेश पाया जाता है परंतु आज भारत की संस्कृति में सारी उच्च भावनाएं धूमिल होती हुई दिखती हैं। दिल्ली भारत का केंद्र है और वहां की संस्कृति का चित्रण प्रस्तुत कविता में हुआ है जो संवेदनशील हृदय को प्रेरित कर देता है।

इस शहर में दिखाई देते हैं विचित्र लोग
मेरे शत्रु से मिलते हैं उनके चेहरे
आरामदेह कारों में बैठकर भी जाते हैं
इंदिरा गांधी अंतरराष्ट्रीय हवाई अड्डे की ओर

- मंगलेश डबराल

भारतीय संस्कृति का अपना शांति दायक शास्त्रीय संगीत है परंतु आज पाश्चात्य संस्कृति में उसका महत्व कम हो रहा है उसकी जगह पॉप संगीत ने ले ली है। इस सांस्कृतिक दुर्दशा का चित्रण प्रस्तुत कविता में हुआ है।

पानी बहने और तारे चमकने की तरह
एक कठिन संगीत हीन संसार में
वह कमरे के बीचो बीच रखा था
उजाले में उसके कारण जानी गई है जगह
लोग आते और उसके चारों और बैठते
अब वह पड़ा है बाकी सामान के बीच
पीतल लोहे और लकड़ी के साथ

उसे बजाने पर अब राग दुर्गा पहाड़ी के स्वर नहीं आते सिर्फ एक उसांस सुनाई देती है कभी-कभी वह छिप जाता है एक पुश्तैनी बक्से में मिजाज पुर्सी के लिए आए लोगों से बचने की कोशिश करता हुआ।

पारिवारिक एकता और सामाजिक एकता के अंतर्गत एक साथ फोटो खिंचवाने की संस्कृति बहुत समय से चली आ रही है। इसी परंपरा को रेखांकित करती है विनोद कुमार शुक्ल की कविता घरवालों के साथ।

घरवालों के साथ तस्वीरें
मुस्कुराते हुए दोस्तों के साथ होंगी फोटो
यह भी हो सकता है
कि पहले मित्र रहा हूं जब तस्वीर खींची थी पिता के साथ मेरी फोटो खींची थी

लोगों के नष्ट और बिछड़ने के उलटफेर में भी जगह वही फोटो खिंचवाने का अच्छा है इस रिवाज को तोड़ने का मन नहीं हुआ है।

भारतीय संस्कृति में नारी का पूजनीय स्थान माना गया है। किंतु वर्तमान में नारी की दुर्दशा हो गई है। कहीं तो समाज उसकी दुर्दशा के लिए दोषी है कहीं स्वयं भी इसके लिए उत्तरदाई है। धूमिल की कविता 'स्त्री' नारी की स्थिति को दर्शाते हुए उद्वेलित करती है -

मुझे पता है स्त्री देह के अंधेरे में बिस्तर की अराजकता है स्त्री पूंजी है बीड़ी से लेकर बिस्तर तक विज्ञापन में फैली हुई।

भारतीय संस्कृति में कुछ परंपराएं विशिष्ट हैं जैसे किसी विशेष अवसर पर हल्दी चावल के ऐपन, चौक लगाना, अल्पना बनाना। प्रस्तुत कविता में भोर का चित्रण करते हुए इन्हीं परंपराओं को पाठक के समक्ष रखा गया है-

आकाश का धुला हुआ चौक
हरसिंगार के फूलों की डंडियों से
रगड़-रगड़ कर चिकना बनाया हुआ
चांदी के ऐपन में
घोर-घोर हल्दी
रुई से बनाए गए उड़े उड़े बादल
सुनहरी रेशमी के मारी गई अल्पना
मांग में इंगूर भर पियरी पहन
पैरों में आलता रच
गोद में सूरज का बाल लाल ले
रोशनी का अर्घ देती है।

–सुमन राजे

भारत की संस्कृति त्याग परोपकार की संस्कृति रही है। सादा जीवन उच्च विचार यहाँ का ध्येय वाक्य रहा है। दया, प्रेम, विश्वास भारतीय संस्कृति की भावात्मक पहचान माने गए पर विडंबना है कि आज के संदर्भ में इन सब के अर्थ विपरीत हो गए हैं, परिवर्तित हो गए हैं। त्याग परोपकार के स्थान पर भोग स्वार्थ, सरल जीवन के स्थान पर भौतिकता और विलासिता का जीवन आ गया है। कुमार अंबुज की कविता 'एक दिन' में भारतीय संस्कृति के प्रति व्यवस्था का वर्णन है।

एक दिन हम सुबह उठते हैं और पाते हैं विलासिता में बदल चुकी हैं जीवन की अनिवार्यता में देखते हैं दुख है संसार में पहले से भी ज्यादा बदल गए हैं उसके कार्य एक भिक्षुक गाता है दया, प्रेम, करुणा और विश्वास दुख के चार कारण है एक दिन असहाय हम देखते हैं मनुष्यता के खिलाफ गढ़े जाते हैं तर्क।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि समकालीन आधुनिक कविता देश की संस्कृति के प्रति सजग है। संस्कृति का चित्रण कर जहां आज की कविताएं समाज को प्रेरित करती हैं वही समाज में हो रही संस्कृति का पतन दर्शा कर समाज को इसके प्रति सचेत भी करती हैं। वस्तुत: आज की कविता में सांस्कृतिक स्वर सघन रूप से विद्यमान दीखता है।

डॉ. जया आनंद, प्रवक्ता (सीएचएम कॉलेज, मुंबई), सी–204, सेक्टर–19, ऐरोली,
ई–मेल : maipanchami@gmail.com

✧ ✧ ✧

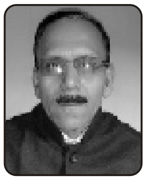

प्रसाद कृत कामायनी में सामाजिक संदर्भ

डॉ. सिद्धेश्वर प्रसाद सिंह

जयशंकर प्रसाद के काव्य में वैयक्तिक प्रेम की परिणति राष्ट्र प्रेम और मानव प्रेम में होती है। वे अपनी कृतियों में भारतीयता और राष्ट्रीयता संस्कृति और मानवता को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। उनके प्रसिद्ध नाटक 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में उक्त वैशिष्ट्य परिलक्षित होते हैं। 'चंद्रगुप्त' नाटक में अनेक गीत राष्ट्रीयता के अभिव्यंजक है- 'हिमाद्रि तुंग से', 'अरूण यह मधुमय देश हमारा', 'स्कंदगुप्त' नाटक में 'भारत-महिमा' राष्ट्र-प्रेमपरक गीत है।

छायावाद आधुनिक युग का सर्वाधिक बहुआयामी वाद है। व्यक्तिवाद, सर्ववाद, मानववाद, समरसतावाद और आनंदवाद के साथ राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति, सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्यों और आध्यात्मिकता के अंकन छायावादी काव्य के वैशिष्ट्य है। महाकवि जयशंकर प्रसाद छायावादी काव्य के प्रमुख हस्ताक्षर है। अत: उनके काव्य में उक्त वादों एवं मूल्यों की सार्थक एवं अप्रतिम अभिव्यंजना है। वैयक्तिकता, भोगवादिता, पूँजीवादी-वैज्ञानिक उन्नति के दुष्परिणामों की अभिव्यक्ति वह यथार्थ के धरातल पर करते हैं।

छायावादी काव्य में सामाजिक संदर्भो को गौण स्थान प्राप्त है। किन्तु 'कामायनी' में सामाजिक संदर्भों एवं मूल्यों का अंकन प्रसाद जी व्यापक धरातल पर करते हैं। डॉ. नामवर सिंह के मत में 'सामाजिक आधार की दृष्टि से आधुनिक रहस्यवादी काव्य मध्ययुगीन संतों के रहस्यात्मक काव्य एवं आधुनिक यूरोपीय प्रतीक रहस्यवाद से भिन्न है। मध्ययुगीन संतों का रहस्यवाद प्राय: जाति प्रथा, ऊँच-नीच के विचार, पुरोहितों से अत्याचार एवं सामंतों के शोषण के विरूद्ध विद्रोह से जुड़ा हुआ है। मध्ययुगीन रहस्यवाद उस युग के किसानों, कारीगरों एवं अछूतों की जीवन-दृष्टि का सूचक है। दूसरी ओर आधुनिक यूरोप का रहस्यवाद पूंजीवादी संध्या के हताश मध्यवर्ग की प्रतिक्रियावादी विचारधारा से पोषित है। इन सबके विपरीत भारत के दूसरे दशक का रहस्यवाद अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ने

वाले मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की जीवन-दृष्टि का अंग है जिसके सामने बहुत दिनों तक अपने लक्ष्य का बोध स्पष्ट नही था, पराधीनता से मुक्त होने की आकांक्षा प्रबल थी। चूँकि पुरानी रूढ़ियों से मुक्त होने की इच्छा इस युग में भी मौजूद थी इसलिए कहीं-कहीं आधुनिक रहस्यवाद में भी मध्ययुगीन रहस्यवाद की भावना की झलक मिल जाती है और यहाँ का शिक्षित वर्ग यदा-कदा यूरोप की आकर्षक पतनोन्मुख विचारधाराओं के मोह-पाश में आ जाता था, इसलिए यत्र-तत्र के भी किटाणु मिल सकते हैं किन्तु कुल मिलाकर हिन्दी का आधुनिक रहस्यवाद अपने सामाजिक आधार एवं साहित्यिक अभिव्यक्ति में उक्त दोनों रहस्यवादों से भिन्न एवं विशिष्ट है।'1

प्रसाद जी वैयक्तिक जीवन बोध, राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक बोध के कवि हैं लेकिन उनकी वैयक्तिकता 'लहर' में चरम परिणति पाकर 'आँसू' में व्यष्टि से समष्टि का उत्कर्ष पाती है-

'बरसो प्रभात हिमकण सा
आँसू इस विश्व सदन में।'2

जयशंकर प्रसाद के काव्य में वैयक्तिक प्रेम की परिणति राष्ट्र प्रेम और मानव प्रेम में होती हैं। वह अपनी कृतियों में भारतीयता और राष्ट्रीयता संस्कृति और मानवता को सर्वाधिक महत्त्व देते है। उनके प्रसिद्ध नाटक 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में उक्त वैशिष्ट्य परिलक्षित होते हैं। 'चंद्रगुप्त' नाटक में अनेक गीत राष्ट्रीयता के अभिव्यंजक है- 'हिमाद्रि तुंग से', 'अरूण यह मधुमय देश हमारा', 'स्कंदगुप्त' नाटक में 'भारत-महिमा' राष्ट्र-प्रेमपरक गीत है। प्रसाद जी अतीत के गौरव गान के साथ मातृभमि की मुक्ति के लिए त्याग और बलिदान की प्रेरणा भी देते हैं-

'हिमालय के आंगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार,
उषा ने हंस अभिनंदन किया और पहनाया हीरक हार।
जगे हम लगे जगाने विश्व में फैला तब आलोक।
वही हैं रक्त वही है देश वही साहस है वैसा ज्ञान,
वही है शांति वही है शक्ति वही हम दिव्य आर्य संतान।
जीये तो सदा इसी के लिए यही अभिमान रहे यह हर्ष,
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारत वर्ष।।' 3

प्रसाद जी का प्रेम काम-वासना या भोग का पर्याय नही हैं, त्याग, सेवा, समर्पण और त्याग का प्रतिरूप हैं। उनके काव्यों में सौदर्य भी 'चेतना का उज्ज्वल वरदान' है। प्रसाद जी मानवीय और सांस्कृतिक अस्मिता को मूल्य और मानवता से संपृक्त करने वाले अप्रतिम कवि हैं, लेकिन उनके काव्य में सामाजिक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य को नया आयाम प्राप्त है।

डॉ. रामविलास शर्मा छायावाद में 'अतृप्त एवं कुंठित वासनाओं का चित्रण नहीं मानते, अपितु उन्हें यहाँ साम्राज्यवाद के विरूद्ध भारतीय जनता के संघर्ष, देश की स्वाधीनता एवं जनतंत्र प्राप्ति की अभिलाषा आदि का सशक्त स्वर सुनाई देता है।'4

शिवदान सिंह चौहान का मत है कि 'छायावादी कविता में व्यक्ति की श्रेष्ठता के प्रतिपादन के साथ सामंती युग की उन समाज श्रृंखलाओं और रूढ़ियों की दासता के विरूद्ध संघर्ष का वर्णन मिलता है, जिसके कारण मनुष्य के व्यक्तिगत विकास के समस्त द्वार बंद हो चुके थे।'5

जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' की सृजनधर्मिता सामाजिक, वैयक्तिक संदर्भों को नया आयाम प्रदान करती है। उनका युग स्वाधीनता-आन्दोलन का युग है किन्तु वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विकास की शुरूआत का युग भी है जहाँ पूंजीवाद, व्यक्तिवाद के साथ व्यक्ति-अस्मिता का प्रारंभ होता है। संपूर्ण भारतीय समाज सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक विषमता से ग्रस्त होता है। पूंजीवाद एवं व्यक्तिवाद के धरातल पर अर्थ एवं काम की प्रबलता होती है। मध्यवर्ग उद्यम एवं कर्म के बावजूद आर्थिक संकट का शिकार होता है। समाज में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा के चक्कर में पड़कर रात-दिन अँधकार में दौड़ लग रही होती है। मनुष्य मतवाला होकर सतत संघर्ष, विफलता और कोलाहल में जीवित रहने को अभिशप्त होता है-

'श्रममय कोलाहल पीड़नमय
विकल प्रवर्तन महायंत्र का
क्षण भर भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रियातंत्र का।
ये भौतिक संदेह कुछ कर के
जीवित रहना यहाँ चाहते,
भाव राष्ट्र के नियम यहाँ पर
दण्ड बने हैं सब कराहते
यहाँ सतत संघर्ष विफलता
कोलाहल का यहाँ राज है
अंधकार में दौड़ लग रही,
मतवाला यह सब समाज है।।' 6

इस कर्म-लोक में शासन की घोषणा में सेवा या कल्याण की बातें नहीं हैं। केवल विजय का अहंकार बोलता है। यहाँ भूख-से विकल जनों को पुनः पुनः पद-दलित होना पड़ता है-

'यहाँ शासन देश घोषणा
विजयों की हुँकांर सुनाती,
यहाँ भूख से विकल दलित को
पदतल में फिर-फिर गिरवाती।।' 7

मनुष्य में इतना असंतोष व्याप्त है कि जीवन निर्वाह के योग्य वस्तु मिल जाने पर भी संतोष दिखाई नहीं पड़ता। यहाँ रात-दिन ईर्ष्या-द्वेष में जलते हुए समाज में सेवा, समर्पण और परदुखकारता का दंभ, अहंकार अपना शासन जमाते जा रहे हैं-

'करते हैं संतोष नहीं है
जैसे कशाघात-प्रेरित से,
प्रतिक्षण करते ही जाते हैं
भीति विवश ये सब कंपित से।।' 8

सुयश के लिए अपराध, लोभ में अपराध और अंकार में कर्त्ताबोध चरम पर हैं-

'बड़ी लालशा यहाँ सुयश की
अपराधों की स्वीकृति बनती,
अंध प्रेरणा से परिचालित
कर्त्ता में करते निज गिनती।।'9

मन में भोगवाद, व्यक्तिवाद और अपसंस्कृति चरम पर होते हैं। वह सारस्वत प्रदेश में साम्राज्य भोग की मर्यादा का अतिक्रमण करते हैं व्यभिचार करते हैं और प्रजा से पराजित होते हैं-

'स्पर्धा में जो उत्तम ठहरें वे रह जावें
संसृति का कल्याण करें शुभ मार्ग बतावें।
व्यक्ति चेतना इसीलिए परतंत्र बनी सी, रागपूर्ण, पर द्वेष पंक में सतत् सनी-सी।
यह जीवन उपभोग यही है बुद्धि-साधना।
अपना जिसमें श्रेय यही सुख की अराधना।।' 10

-संघर्ष सर्ग

सत्ता का अंह और स्वार्थ मनुष्य को मूल्यहीन बनाते हैं-

'मैं शासक में चिर स्वतंत्र,
तुम पर भी मेरा हो अधिकार असीम,
सफल हो जीवन मेरा।।'11

व्याभिचार एवं अनाचार की चरम परिणति मन के पराजय में होती है-

'भीषण जन संहार आप ही तो होता है
ओ पागल प्राणी तू क्यों जीवन खोता है।
अंतरिक्ष में महाशक्ति हुँकार उठी,
सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग भर उठी
और गिरी मनु पर मुमूर्शु वे गिरे वहीं पर
रक्त नदी की बाढ़ फैलती थी उस भू पर।।'12

-संघर्ष सर्ग

प्रसाद जी व्यक्तिवाद के पराजय के धरातल पर समाज की प्रगति की ओर जाने की प्रेरणा देते हैं। वह 'कामायनी' में देवताओं के विलासपूर्ण जीवन की ओर संकेत करते हुए समाज के इन वैभवशाली एवं ऐश्वर्य संपन्न व्यक्तियों के जीवन का यथार्थ व्यक्त करते हैं-

'सब कुछ थे स्वागयत विश्व के
बल, वैभव आनंद अपार,
उद्वेलित लहरों सा होता उस
समृद्धि का सुख-संसार।
सुरा सुरभि मय बदन अरूण वे
नयन खरे आलस अनुराग।।' 13

प्रासद जी सुख-दु:ख, संयोग-वियोग, राग-विराग, जय-पराजय के सच का उद्घाटन करते हैं और मनुष्य को कर्म-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देते हैं-

'दु:ख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात,
एक रदा यह झीना नील
छिपाये है जिसमें सुख गात।।' 14

-श्रद्धा सर्ग

प्रसाद भौतिकवादी, पूंजीवादी, व्यक्तिवादी समाज की विडंबनाओं से परिचित होते हैं जहाँ विशमता व्याप्त है-

'विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान्
यही सुख-दु:ख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।।'15

-श्रद्धा सर्ग

विशमता से समाज नाना प्रकार की पीड़ा झेलता है, निरादर और तिस्कार झेलता है, पद-दलित होता है। अत: समरसता की आकांक्षा व्यक्त करते हैं प्रसाद जी-

'नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण-जलधि समान
व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान।।'16

मनुष्य भोग-विलास का दास बनकर कर्महीन और जड़ बन जाता है, निरूपाय हो जाता है, निरंतर उद्यम ही सफलता का मूल है-

'किन्तु जीवन कितना निरूपाय
लिया है देख नहीं संदेह,
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह काल्पित गेह।।'17

वह मनुष्य को आत्मशक्ति और आह्लाद प्राप्त प्राणी मानते हैं। कर्म से शक्तिशाली और विजयी बनता है मनुश्य-

'और क्या यह सुनते नहीं
विधाता का मंगल वरदान,
शक्तिशाली हो विजयी बनो
विश्व में गूंज रहा जयगान

डरो मत अरे अमृत संतान
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि
पूर्ण आकर्शण जीवन केंद्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।।'18

प्रकृति और शक्ति के समन्वय में ही मानव की विजय निहित है-

'शक्ति के विद्युत कण से
जो व्यस्त विकल बिखरे हैं, हो निरूपाय,
समन्वय उसका करे समस्त,
विजयिनी मानवता हो जाए।।'19

मनु श्रद्धा की प्रेरणा से कर्म-पथ पर अग्रसर होते है किन्तु उनकी व्यक्ति-अस्मिता प्रबल रहती है अत: वह गर्भवती श्रद्धा का परित्याग कर इड़ा को अंगीकार कर लेते हैं-

'यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिए मुझे मेरा ममत्व,
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करने बन एक तत्व।।'20

मनु निजी अस्मिता एवं स्वतंत्रता को सर्वोपरि मानकर सामाजिक-पारिवारिक मूल्यों का परित्याग कर देते है-

'तुम अपने सुख से सुखी रहो
मुझको दु:ख पाने दो स्वतंत्र,
'मन की परवशता महादु:ख'
मैं यही जपूँगा महामंत्र।।'21

प्रसाद जी व्यक्ति की अपेक्षा समाष्टि की सार्थकता मानते हैं और स्वसुख के साथ परसुख की पक्षधरता व्यक्त करते हैं-

'अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा?
यह एकांत स्वार्थ भीषण है,
अपना नाश करेगा,
सुख को सीमित कर अपने में
केवल दु:ख छोड़ोगे,
इतर प्राणियों की पीड़ा लख
अपना मुँह मोड़ोगे।।'22

-कर्म सर्ग

संग्रह अपने सुख संतोष के लिए नहीं है, उसका मूल उद्देश्य कुछ दूसरा है। वह उद्देश्य है

प्रदर्शन, दूसरों को सुख दिखाना-

‘सुख अपने संतोष के लिए?
संग्रह मूल नहीं है
उसमें एक प्रदर्शन जिसको
देखे अन्य वही है।।’23

सारी संपदा को अपने में भरकर, अपने लिए रख कर व्यक्ति अमानवीय बन जाता है। औरों की प्रसन्नता भी अपनी प्रसन्नता के लिए अपरिहार्य है। सबका सुख ही अपने सुख की सीमा है। दूसरों के सुख से अधिक कोई सुख नहीं है-

‘औरों को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सबको सुखी बनाओ।।’ 24

प्रसाद जी संपूर्ण मानव-समाज की सुख-समृद्धि के पक्षधर हैं, उनकी दृष्टि में सभी अनेक हैं, किन्तु मनुष्यता के धरातल पर सभी एक हैं, सबका विकास मनुष्य का विकास हैं, समाज की उन्नति है-

‘हम अन्य न और कुटुंबी
हम केवल एक हमी हैं
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है।
शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है
जीवन-वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।।’25

सबकी सेवा करना पराए की नही अपनी सेवा है। क्योंकि सभी अपने हैं, सबकी सेवा करना ही सुख है। सबकी सेवा से दु:खद संसार सुखद बन जाता है। सभी अपने ही अणु हैं, कण हैं। अणु कण-कण सभी अपने हैं। इसके अतिरिक्त दो या अलगाव का भाव ही स्वरूप विस्मृति है-

‘सबकी सेवा न परायी वह
अपनी सुख-संपति है
अपना ही अणु-अणु कण-कण
द्वयता ही तो विस्मृति है।।’26

वस्तुत: प्रसाद जी सामाजिक उन्नति के लिए भोग-विलास की अपेक्षा त्याग एवं सेवा के प्रति निष्ठा व्यक्त करते हैं। समाज में सुख-दु:ख प्राय: आते-जाते रहते हैं अत: इनसे मुक्ति के लिए जीवन में समरसता अपेक्षित है। समरसता इच्छा, ज्ञान और क्रिया में समन्वय से आती है आनंद का माध्यम है समरसता।

वह 'समरसता, समर्पण और सेवा-त्याग द्वारा समाज की सतत् उन्नति एवं समृद्धि की प्रेरणा व्यक्ति को देते हैं'।

'प्रसाद कृत 'कामायनी' मानव-काव्य है, मानव-चेतना का काव्य है, मानव-कल्याण का काव्य है। जगती के पाप-पुण्य से पीड़ित कवि प्रसाद 'आँसू' में ईश्वर से मुक्ति की वंदना करते हैं-

'जगती का कलुष अपावन
तेरी विदग्धता पावे,
फिर निखर उठ निर्मलता
यह पाप-पुण्य हो जावे।।' 27

प्रसाद जी समाज में क्रांति लाने के लिए वर्तमान हिंसा को समूल नष्ट करने के लिए अमृत संतान को कर्म-मार्ग पर चलने के लिए आमंत्रित करते हैं-

'डरो मत अरे अमृत संतान।
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि।।'28

संदर्भ सूची

1. आधुनिक साहित्य की प्रतृत्तियाँ-डॉ. नामवर सिंह, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्श-1991, पृष्ठ-68-69, 2. आँसू- जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ- 80, 3. भारत वर्ष कादंबिनी-संपादक-आनंद नारायण शर्मा, भारती भवन पटना, वर्ष-1966, पृष्ठ-52-53, 4. लोक, जीवन और साहित्य-डॉ. रामविलास शर्मा, पृष्ठ-86, 5. प्रगतिवाद-डॉ. शिवदान सिंह चौहान, पृष्ठ-33, 6. कामायनी भाष्य- (रहस्य सर्ग), सं. डॉ. युगेश्वर, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष-2006, पृष्ठ-290-291, 7. वही पृष्ठ-292, 8. वही पृष्ठ-291, 9. वही पृष्ठ-292, 10. वही पृष्ठ-231, 11. वही पृष्ठ-238, 12. वही पृष्ठ-243-244, 13. वही पृष्ठ-78, 14. वही पृष्ठ-79, 15. वही पृष्ठ-80, 16. वही पृष्ठ-80, 17. वही पृष्ठ-81, 18. वही पृष्ठ-86, 19. वही पृष्ठ-88, 20. वही पृष्ठ-175, 21. वही पृष्ठ-176, 22. वही पृष्ठ-159, 23. वही पृष्ठ-160, 24. वही पृष्ठ-159, 25. वही आनंद सर्ग पृष्ठ-306, 26. वही पृष्ठ-307, 27. कामायनी-डॉ. हरिहर प्रसाद गुप्त, भाषा साहित्य-संस्थान, इलाहाबाद, पृष्ठ-73, 28. कामायनी: भाष्य, डॉ. युगेश्वर, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष-2006, पृष्ठ-86

डॉ. सिद्धेश्वर प्रसाद सिंह, हिन्दी विभाग, बी.एन. मंडल विश्वविद्यालय, मधेपुरा (बिहार)
मो. : 9430313990

✧ ✧ ✧

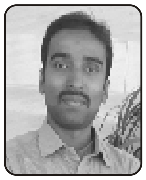

बिहार की गौरवपूर्ण हिन्दी-साहित्यिक पत्रिका ''सुसंभाव्य''

डॉ. अमरकांत कुमर
अमित कुमार मिश्रा

इस पत्रिका की शुरुआत करते समय संस्थापक और संपादक के मन में यह विचार निरंतर बना रहा कि क्षेत्र के छोटे-बड़े साहित्यकार किसी सफल पत्रिका के अभाव में अपनी रचनाशीलता का समुचित प्रदर्शन नहीं कर सकते हैं। इसी विचार धारा से प्रेरित होकर यह पत्रिका निरंतर हिन्दी साहित्य के ख्यात और प्रतिष्ठित साहित्यकारों के साथ-साथ प्रतिभा-संपन्न उभरते साहित्यकारों को भी नियमित स्थान देती रही है। पत्रिका के इस संकल्प को पत्रिका के तीसरे अंक के संपादकीय में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है -

साहित्य सृजन के साथ - साथ साहित्य का मूल्यांकन, समीक्षा नितांत आवश्यक होता है। इसके बिना साहित्य का असर धीरे-धीरे क्षीण पड़ने लगता है। वैसे ही, साहित्य की संवाहिका साहित्यिक-पत्रिका होती है और उसका मूल्यांकन यदि समय समय पर नहीं किया जाए तो धीरे-धीरे उसकी महत्ता धूमिल होती चली जाती है। यह नितांत आवश्यक है कि साहित्य और साहित्यिक पत्रिकाओं को निरंतर चर्चा के केंद्र में रखा जाए। हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में बिहार की भूमि ने शुरुआती दौर में ही अपनी धाक जमा ली थी, वह धाक अब तक कायम है। आज भी बिहार की भूमि से अनेक साहित्यिक पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही है जो पूरे भारतवर्ष में हिंदी भाषा और साहित्य के प्रचार प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर रही है। भागलपुर से निकलने वाली सुसंभाव्य पत्रिका आज किसी परिचय की मोहताज नहीं रह गई है। इतने कम समय में इस पत्रिका ने जिस मुकाम को हासिल किया है वह विस्मयकारी है।

इस शोध आलेख में सुसंभाव्य पत्रिका के अब तक प्रकाशित अंकों के आधार पर एक समीक्षात्मक लेख प्रस्तुत किया गया है।

बीज शब्द :

पत्रिका, पत्रकारिता, सुसंभाव्य, बिहार, भागलपुर

भूमिका

हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्र में बिहार का योगदान आरंभ से ही गौरवपूर्ण रहा है। बिहार-बंधु से जारी सफर निरंतर गतिवान है। आज बिहार के हर प्रांत से

साहित्य लेखन और उसकी अभिव्यक्ति के लिए साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन हर्ष उत्पन्न करता है। वैसे तो बिहार के सभी जिले साहित्यिक पत्रिकाओं के प्रकाशन की दृष्टि से संपन्न है लेकिन इसमें भागलपुर जिले का नाम और अधिक गौरवपूर्ण है। भागलपुर से अनेक साहित्यिक पत्रिकाओं का संपादन-प्रकाशन समय-समय पर किया जाता रहा है जिनका वर्णन यहाँ अपेक्षित नहीं है। यहाँ सुसंभाव्य पत्रिका के स्वरूप एवं उसकी प्रवृत्ति का विस्तृत वर्णन अपेक्षित है।

प्रकाशन की शुरुआत और सफर

इस गंभीर साहित्यिक पत्रिका के संपादन की शुरुआत वर्ष 2013 ई. में की गई। तब से निरंतर प्रत्येक वर्ष इस पत्रिका के चार अंक प्रकाशित किए जा रहे हैं। पत्रिका त्रैमासिक है अतः प्रत्येक वर्ष जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्टूबर माह में इसके अंकों का प्रकाशन प्रस्तावित है जिस पर यह पत्रिका अब तक खड़ी उतरी है। यही कारण है कि जनवरी 2013 ई. से शुरू हुई इस पत्रिका के अप्रैल 2020 तक 30 अंक प्रकाशित हो चुके हैं।

संपादक

इस पत्रिका के पहले अंक का संपादन 'डॉ. योगेंद्र' ने किया। संपादक मंडल में डॉ. अश्विनी और डॉ. जी.पी. सिंह शामिल रहें। पत्रिका के संस्थापक श्री दयानंद जायसवाल हैं। दूसरे अंक (अप्रैल 2013) का संपादन डॉ. अश्विनी और डॉ. जी.पी. सिंह ने किया। प्रधान संपादक डॉ. शीतल अवस्थी रहें। जनवरी 2014 वाले अंक में श्री दयानंद जायसवाल संस्थापक सह प्रबंध संपादक रहें। प्रधान संपादक का पद इसमें लोप कर दिया गया। संपादक पूर्ववत् रहें। इस दिशा में अगला परिवर्तन दिखा जनवरी 2016 वाले अंक में, यहाँ संपादक त्रयी के रूप में डॉ. गिरिजा शंकर मोदी, डॉ. अश्विनी और प्रवीण कुमार ने पत्रिका का संपादन कार्य संभाला। अप्रैल 2017 वाले अंक से संपादक के रूप में डॉ. गिरिजा शंकर मोदी और डॉ. अश्विनी जुड़े रहें। श्री दयानंद जायसवाल जो पत्रिका के संस्थापक थे प्रधान-संपादक भी बनाए गये और अब उनका नाम संस्थापक सह प्रधान संपादक के रूप में छपने लगा। सुसंभाव्य के अप्रैल 2019 वाले अंक से संपादन-कार्य संपादक मंडल के त्रयी द्वारा संभाला गया जिनमें डॉ. गिरिजा शंकर मोदी, अश्विनी प्रजावंशी और कुन्दन अमिताभ शामिल हैं।

विश्लेषण

पत्रिका की शुरुआत 'संभाव्य' नाम से की गई थी। अक्टूबर 2015 तक यह इसी नाम से छपती रही। जनवरी 2016 वाले अंक से इसका नाम 'सुसंभाव्य' कर दिया गया। संभाव्य के दूसरे अंक जुलाई 2013 से इसका पंजीयन (ISSN-2321-3922) हुआ।

यह पत्रिका बिहार के भागलपुर जिले से प्रकाशित होती है जिसका पता द्वारा, श्री दयानंद जायसवाल, मौर्या जुबली प्लेस, जीरोमाईल, भागलपुर 813210 है। इस पत्रिका का अपना एक समुन्नत वेबसाइट है जिस पर पत्रिका के सभी अंक उपलब्ध हैं।

सुसंभाव्य का स्वरूप पूर्ण रूपेण साहित्यिक है। यह पत्रिका नियमित रूप से साहित्यिक सामग्रियां प्रकाशित करती है जिसमें प्रायः साहित्य की सभी विधाएं प्रकाशित हुआ करती हैं। पत्रिका के प्रायः सभी अंकों में 'संस्थापक की कलम से' शीर्षक से दयानंद जायसवाल एक कॉलम लिखते हैं जो पत्रिका का विशेष आकर्षण है। इसमें देश और समाज की समस्याओं को निरंतर उठाया जाता रहा है। देश, समाज और मानवता का चिंतन इस कॉलम के अंतर्गत चर्चा के केंद्र में

बना रहा है। इसका उदाहरण द्रष्टव्य है –

'आज बढ़ती जनसंख्या के कारण भारत ही नहीं, विश्व के अनेक देशों में लाखों लोग भुखमरी का जीवन जीने को मजबूर हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब मानवीय गुणों की अवहेलना हुई है, युद्ध की स्थिति उत्पन्न हुई है। इसलिए प्रजातांत्रिक मूल्यों के विकास के लिए भी मानवता के मूल्यों को प्रोत्साहन दिए जाने की आवश्यकता है।'[1]

इस पत्रिका की शुरुआत करते समय संस्थापक और संपादक के मन में यह विचार निरंतर बना रहा कि क्षेत्र के छोटे-बड़े साहित्यकार किसी सफल पत्रिका के अभाव में अपनी रचनाशीलता का समुचित प्रदर्शन नहीं कर सकते हैं। इसी विचार धारा से प्रेरित होकर यह पत्रिका निरंतर हिन्दी साहित्य के ख्यात और प्रतिष्ठित साहित्यकारों के साथ-साथ प्रतिभा-संपन्न उभरते साहित्यकारों को भी नियमित स्थान देती रही है। पत्रिका के इस संकल्प को पत्रिका के तीसरे अंक के संपादकीय में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है –

'किसी पत्रिका के प्रकाशन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण कर्म यह होता है कि स्थानीय स्तर के रचनाओं एवं रचनाकारों को प्रकाश में लाना। ऐसा होता है कि पत्रिका के अभाव में एक से एक अच्छी रचना उस स्थान विशेष का कोई अपना सौंदर्य, कोई अपनी विशेषता, उसकी पूरी प्रति सब स्थानीय स्तर पर ही गुम हो जाती हैं।'[2]

पत्रिका में आलेख, शोध, वैचारिक लेख, जीवन-दर्शन, कविता, कहानी, गीत, गजल, पाठकों की प्रतिक्रिया आदि सामान्य रूप से छपती रही है। पत्रिका का प्रकाशन सृजन एवं समीक्षा की प्रतिबद्धता के रूप में किया जाता है। पत्रिका के शुरुआती अंकों से ही साहित्य की अन्य विधाओं के साथ अनेक महत्वपूर्ण समीक्षा एवं आलेख छपते रहे हैं। इसके उदाहरण के रूप में पत्रिका के तीसरे अंक में प्रकाशित 'अंग प्रदेश का हिन्दी साहित्य' (डॉ. अमरेंद्र), वैश्वीकरण के दौर में नारी (संयुक्ता गुप्ता), भूमंडलीकरण और साहित्य (रहीम मियां), चौथे अंक में प्रकाशित 'वर्तमान का सौंदर्य बोध' (डॉ. अश्विनी), गुरुकुल बनाम वर्तमान शिक्षा पद्धति (डॉ. जीपी सिंह), हम, हमारी आधुनिकता और बुजुर्ग (डॉ. सुनील कुमार परीट), जनवरी 2014 अंक में प्रकाशित 'स्वातंर्त्योत्तर कविता' (डॉ. सुनील कुमार परीट), डॉ. हरिवंश राय बच्चन : काव्य विवेचन (डॉ. दयानंद जयसवाल) इत्यादि अनेक लेखों को देखा जा सकता हैं।

पत्रिका के स्वरूप को नियमित तौर पर संस्थापकों और संपादकों के द्वारा दुहराया जाता रहा है। जनवरी 2014 अंक में पत्रिका के संस्थापक दयानंद जायसवाल ने और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा –

'आप जानते हैं कि यह पत्रिका साहित्यिक विरासत की अवहेलना की चिंता, विश्व साहित्य की परिकल्पना, भाषा साहित्य, संस्कृति, सभ्यता और हमारी अस्मिता की पहचान के रूप में सृजन एवं समीक्षा के लिए प्रतिबद्ध है।'[3]

यह पत्रिका निरंतर मानव-जीवन के विकास का पथ अग्रसर करती रही है। साहित्य और साहित्यिक पत्रिकाएं समकालीन मानव-जीवन का दस्तावेज मात्र नहीं होकर पथ-प्रदर्शिका भी होती है। वैश्विक स्तर पर इस सदी की सबसे बड़ी समस्या प्रदूषित पर्यावरण है। इस दिशा में जागरूकता लाने की दिशा में भी इस पत्रिका की अहम भूमिका रही है। संभाव्य के जनवरी 2014 अंक में 'संभाव्य-संदेश' शीर्षक से वर्णित यह तथ्य द्रष्टव्य है –

'ऑक्सीजन जिस्म को जिन्दा रखने के लिए बेहद जरूरी है जिसे वृक्षों और लताओं ने मुफ्त में हमारे नाम करने का ऐलान कर रखा है। इसलिए अपने हिस्से के ऑक्सीजन के लिए पाँच वृक्ष अवश्य लगावें।'[4]

अब चर्चा करते हैं इस पत्रिका के 2016 ई. से निकलने वाले अंकों की। इस पत्रिका का वर्तमान स्वरूप इसे 2016 में ही प्राप्त हुआ। इससे पहले पत्रिका 'संभाव्य' के नाम से प्रकाशित होती थी अब इसका नाम 'सुसंभाव्य' कर दिया गया। इसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए पत्रिका के संस्थापक सह प्रधान संपादक श्री दयानंद जायसवाल लिखते हैं -

'जैसा कि आप जानते हैं सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली के द्वारा जो टाइटल कॉड उपलब्ध कराया गया है उसमें संभाव्य को सुसंभाव्य नाम दिया गया है। यही कारण है कि अब यह पत्रिका सुसंभाव्य के नाम से प्रकाशित होगी।'[5]

पत्रिका में पूर्व की भांति सभी स्तंभ मौजूद हैं। जनवरी 2016 अंक के कुछ आलेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनमें, आधुनिकता के अग्रदूत : मैथिलीशरण गुप्त (डॉ. पुनीत विसारिया), बाजारवाद बनाम पुस्तकें (डॉ. सुनीता अवस्थी), भूमंडलीकरण के संदर्भ में भारत और हिन्दी (सुरजीत सिंह वर्णवाल) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

साहित्य की सभी विधाओं को अपने भीतर समेटे इस पत्रिका की यात्रा निरंतर जारी है। यह सफलतापूर्वक अपना हर अंक प्रकाशित करती रही है। इसमें निश्चय ही पत्रिका से जुड़े समस्त सुधिजनों का श्रम स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। पत्रिका हर पक्ष पर बेबाक और निर्भीक होकर अपना पक्ष रखती रही है। एक समय था जब साहित्यिक पत्र-पत्रिका के संपादक महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे लोग हुआ करते थे, जो न सिर्फ उच्चकोटि के साहित्य का चयन पत्रिका के लिए किया करते थे बल्कि भाषा और साहित्य के समुचित विकास के लिए साहित्यकारों को प्रेरित और निर्देशित भी करते थे। सुसंभाव्य के जनवरी 2020 अंक में प्रकाशित 'संस्थापक की कलम से' स्तंभ का एक कथन विशेष रुप से ध्यान आकर्षित करता है-

'एक समय था जब साहित्यकार गरीब हुआ करते थे तो भी 'साहित्य का धनी' थे, किंतु आज पैसों का धनी है तो साहित्य का निर्धन (क्योंकि इन्हें अपने साहित्य रचना-कौशल में डूबने का समय कहाँ। इनका साहित्य सृजन तो लिखने से पहले भाव लगाता है, प्रकाशक के अनुसार होता है, मित्रों को बांटने के लिए होता है, पुरस्कार पाने के लिए होता है, जिसमें मौलिकता का क्षरण और अभाव होता जा रहा है।'[6]

पत्रिका के अप्रैल-जून 2020 अंक में गजल, कविता, कहानी, आलेख, समीक्षा, आदि सभी स्तंभ कमोबेश संख्या में मौजूद हैं। इस अंक में डॉ. सीता वर्मा, रोशनी कुमारी, प्रो. मकेश्वर रजक, अरविंद अवस्थी, डॉ. शशि प्रकाश चौधरी, डॉ. अरुण कुमार शर्मा, डॉ. सुभाषचंद्र गुप्त, डॉ. दयानंद जायसवाल आदि की समीक्षाएं प्रकाशित हैं। आलेख में 'सकारात्मक से नकारात्मक मिलता है' (सुभाषचंद्र झा), राष्ट्रनायक शहीद भगत सिंह (डॉ. अमर सिंह बधान) अभावों और अन्तर्भावों के बीच रचनाधर्मिता (डॉ. मंजरी पांडेय), राष्ट्रभाषा हिन्दी की विकास यात्रा (आलोक भारती), कोरोना को जानें (बिरजू कुमार) इस अंक के विशेष आकर्षण हैं। इसके अलावे शशि आनंद अलवेला, केशवशरण, की गजलें, किशोर कुमार अग्रवाल, प्रिया देवांगन, अंजनी कुमार सुमन, सदाशिव कौतुक, भोला प्रसाद मंडल भ्रमर, रोहित प्रसाद पथिक, अमोद कुमार मिश्र, मंजुला

उपाध्याय मंजुल, डॉ. अवधेश चन्सौलिया आदि की कविताएं, राजा सिंह और आशा पुष्प की कहानियां आदि इस अंक में शोभायमान हैं।

एक तथ्य ध्यान देने योग्य है कि इस पत्रिका का संपादन, संपादक मंडल के द्वारा किया जाता है। यही कारण है कि इसमें संपादकीय के स्थान पर स्थायी कॉलम के रूप में 'संस्थापक की कलम से' (पुरोवाक) रहता है। जिसका लेखन पत्रिका के संस्थापक दयानंद जायसवाल करते हैं। इस लेख के द्वारा साहित्य और समाज से जुड़े गंभीर चिंतन पाठकों के समक्ष परोसे जाते हैं। इस संबंध में एक बानगी द्रष्टव्य है -

'साहित्य मानव के मस्तिष्क का भोजन है, वैचारिक चेतना के विकास का सूचक है तथा भाव का आदर्श है या परोक्ष में कहें तो साहित्य मानव सभ्यता के विकास का सारसूत्र है। नहीं भूलना चाहिए कि साहित्य अंत:करण की औषधि है। आज वही साहित्य कलात्मक माना जा सकता है, जो मुकम्मल योगदान का हिमायती है।'[7]

पत्रिका के जुलाई-सितंबर 2020 अंक का संपादकीय (पुरोवाक) विशेष रूप से पठनीय है जिसमें साहित्य, साहित्य का उद्देश्य, साहित्यकारों का कर्तव्य, जैसे साहित्य से जुड़े बुनियादी चीजों पर 'श्री दयानंद जायसवाल' ने अत्यंत गहराई से अपना पक्ष रखा है जिसे पढ़कर वह समय याद आ जाता है जब अवंतिका का संपादन डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु किया करते थे और हर अंक का संपादकीय हिंदी साहित्य के लिए संरक्षणीय मोती के समान होता था। इस अंक में एक जगह श्री जायसवाल लिखते हैं, 'असल में साहित्यिक पत्रिका का संबंध रचनाकार की स्वप्नशीलता से होता है, उसकी सामाजिक दृष्टि से होता है, उसके रचनात्मक कौशल से होता है। इसमें कहानी, कविता, समीक्षा या अन्य लेख जो कुछ छपते हैं, उसके मूल में आम आदमी का दर्द होता है, रचनाकार का दर्द होता है, पाठक का दर्द होता है और इसी दर्द को रेखांकित करने के लिए इस पत्रिका का जन्म हुआ है।'[8]

पत्रिका के नवीनतम अंक अक्टूबर-दिसंबर 2020 अंक की चर्चा सर्वप्रथम आमंत्रण पेज से करना समीचीन होगा जहाँ पत्रिका, रचनाकारों से रचना आमंत्रित करते हुए उद्घोषित करती है 'आइये सब मिलकर सामाजिक सरोकार से संबंधित सार्वभौम, सार्वजनीन एवं श्रेष्ठ साहित्य के माध्यम से धर्म- मजहब, जाति, लिंग, वर्ण, वर्ग और नस्ल-भेद की दीवार हटा दें और सिर्फ इंसान बनें तथा उत्तम ज्ञान एवं श्रेष्ठ आचरण से स्वयं का परिष्कार कर विश्वग्राम का सौभाग्य बनें।'[9]

ऐसी परिकल्पना किसी साहित्य को श्रेष्ठता की उच्च शिखर पर ले जाने में सहायक तो है ही समाज को नवीन विकास के प्रगति के पथ पर अग्रसर करने का एकमात्र मार्ग भी है। ऐसे प्रस्तावों को उद्भासित होते देख मन फ्रुल्लित हो उठता है कि साहित्यिक पत्रकारिता आज भी अपने पथ से विचलित नहीं हुई है।

पत्रिका के इस अंक के संपादकीय में श्री दयानंद जायसवाल लिखते हैं 'साहित्यकार ही समाज में फैली कुरीतियों, विसंगतियों, विकृतियों, अभावों, विषमताओं तथा असमानताओं आदि के बारे में लिखता हैं, इसके प्रति जनमानस को जागरूक करने का प्रयास करता है। साहित्य जनहित के लिए होता है। जब सामाजिक जीवन में नैतिक मूल्यों का पतन होने लगता है, तो साहित्य जनमानस का मार्गदर्शन करता है और साहित्य जगत् में रचनाकार तभी अपना महत्व रखते हैं, जब वे हर काल एवं परिस्थिति में जीवंतता से जुड़े रहते हैं, प्रासंगिक होते हैं और प्रेरणा के स्रोत बनकर दिशा बोध

करते रहते हैं। साहित्य का आधार ही जीवन है और साहित्यकार समाज अथवा युग की उपेक्षा नहीं कर सकता।'[10]

हर अंक की तरह इस अंक में भी साहित्य की सभी विधाओं की रचनाएं प्रकाशित की गई हैं। रचनाओं का चयन कुशलतापूर्वक किया गया है। शोध आलेखों में, 'समकालीन हिंदी का यथार्थ और उत्तर आधुनिकता का संदर्भ' (डॉ. वरुण कुमार तिवारी), 'प्रेमचंद के झूठे दावेदार' (कमलकिशोर गोयनका), 'संस्कृति और साहित्य का अंतर्संबंध' (डॉ. अमर सिंह बधान), 'भाषा का महत्व' (आचार्य बलवंत), 'हिंदी राष्ट्रीयता की संजीवनी है' (डॉ. नलिनी श्रीवास्तव शिवायन), 'हिंदी का विकास अपना लक्ष्य' (सीताराम गुप्ता) आदि विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं। इसके अलावे इस अंक में कई उच्च कोटि की कहानियां, लघुकथाएं, गीत, गजल, कविताएं आदि प्रकाशित हैं जो हिंदी साहित्य की समृद्धि के द्योतक हैं।

निष्कर्ष :

पत्रिका के समग्र रूप का अवलोकन करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यह पत्रिका साहित्य के समस्त विधाओं को समान रूप से खुद में समेट कर साहित्य के सर्वांगीण विकास का स्वर मुखरित करती है। साहित्यिक पत्रिका कुछ कदम चलने के बाद लड़खड़ाने-डगमगाने लगती है और अनियतकालीन हो जाती है ऐसे दौड़ में इस पत्रिका का नियमित रूप से प्रकाशित किया जाना पत्रिका से जुड़े लोगों के लगन का परिचय देती है। पत्रिका में उच्च स्तरीय साहित्य का समावेश किया जाना हिंदी साहित्य के विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। निश्चित ही यह पत्रिका हिंदी के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगी और हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में इसे वही स्थान प्राप्त होगा जो सरस्वती, हंस, अवंतिका जैसी पत्रिकाओं को प्राप्त है।

संदर्भ सूची :

1. सुसंभाव्य, पुरोवाक - दयानंद जायसवाल, जनवरी 2013 अंक, पृष्ठ-5
2. सुसंभाव्य, पुरोवाक - दयानंद जायसवाल, जुलाई-सितंबर 2013 अंक, पृष्ठ-5
3. सुसंभाव्य, पुरोवाक - दयानंद जायसवाल, जनवरी 2014 अंक, पृष्ठ-5
4. सुसंभाव्य, पुरोवाक - दयानंद जायसवाल, जुलाई-सितंबर 2013 अंक, पृष्ठ-5
5. सुसंभाव्य, पुरोवाक - दयानंद जायसवाल, जनवरी 2016 अंक, पृष्ठ-5
6. सुसंभाव्य, पुरोवाक - दयानंद जायसवाल, जनवरी 2020 अंक, पृष्ठ-5
7. सुसंभाव्य, पुरोवाक - दयानंद जायसवाल, अप्रैल-जून 2020, पृष्ठ-5
8. सुसंभाव्य, पुरोवाक - दयानंद जायसवाल, जुलाई-सितंबर 2020 अंक, पृष्ठ-5
9. सुसंभाव्य, अक्टूबर-दिसंबर 2020 अंक, पृष्ठ-3
10. वही, पृष्ठ-5

डॉ. अमरकांत कुमर, एसोसिएट प्रोपफेसर, हिंदी विभाग, महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह मेमोरियल महाविद्यालय, दरभंगा, संपर्क – 9430236078

अमित कुमार मिश्रा, शोधर्थी, हिंदी विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा। संपर्क – 9304302308, ईमेल – amitraju532@gmail.com

✧ ✧ ✧

सहज कहानियों का आत्मीय जगत

महेश दर्पण

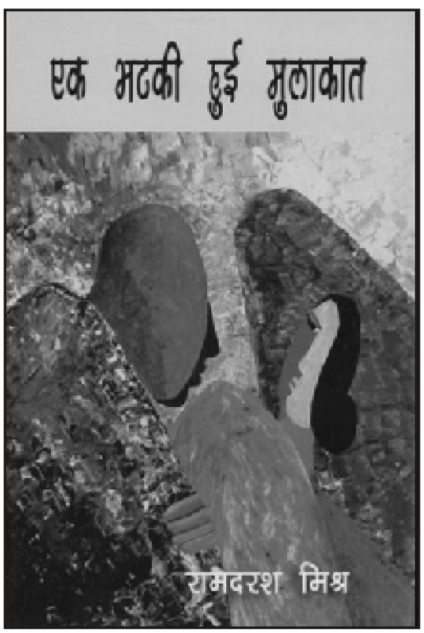

कहानी सं0 : एक भटकी हुई मुलाकात
कहानीकार : रामदरश मिश्र
हंस प्रकाशन : 4648/21,
अंसारी रोड, दरियागंज,
दिल्ली–110002
मूल्य : 995 रूपये

एक समय हिन्दी कहानी मनुष्य की तरह सरल थी। उसमें छल-छदभ भरी जटिलता के लिए जीवन की तरह कोई स्थान न था। संवेदनशीलता ही मनुष्य की पहचान थी और जीवन में भावनाएं ही उतार-चढ़ाव लाया करती थी। यह स्थिति छठे दशक के पूर्वार्द्ध तक काफी हद तक बनी रही। ऐसे बहुत कम कथाकार हैं अब, जो तब से आज तक कहानी लेखन करते चले आ रहे हैं। मूलत: एक कवि के रूप में प्रतिष्ठित और 'कवि' के दस विशिष्ट कवियों में एक रामदश मिश्र ऐसे वरिष्ठ कथाकारों में प्रमुख हैं।

'मनोज जी' जैसी कहानी से कथा में प्रवेश करने वाले रामदश जी एक सहज कथाकार है। यदि 'सहज कहानी' का आंदोलन जड़े जमा सका होता, तो विष्णु प्रभाकर के बाद वह इसकी प्रमुख पहचान बनते। दीर्घ कहानी-जीवन से जुड. होने के कारण, इनकी रचनाओं में परिवर्तित हो रहा समय स्वत: मुखरित हो उठा है। जो पाठक उनके कथाकार के मानस को समझना चाहते हैं, वे यदि रामदरश जी के अठारह महत्वपूर्ण कहानी संग्रह न भी पढ़ सके हों, तो 'एक भटकी हुई मुलाकात' पढ़कर बहुत कुछ जान सकते हैं। इस कहानी संग्रह में मिश्रजी की सताइस कहानियां संग्रहीत है।

जीवन अनुभव इस कथाकार के लिए सबसे बड़ी प्रेरणा है तो उसकी प्रमुख अभिलाषा है अपेक्षित यथार्थ। जो नहीं है, वह

क्यों नहीं है और समाज में परिवर्तन आखिर हो कैसे?अपनी पहली ही कहानी से इस चिंता को सामने रखने वाले इस कथाकार की बाद की एक कहानी है–'जमीन'। इसका आठवीं कक्षा का हरिजन छात्र देखता है कि राजनेता जिस समाजवाद की बात करता है, वह बायवी है। समाज में उसके लिए कोई स्थान नहीं । यहां तक की बात होती, तो शायद कोई बर्दाशत भी कर जाए, लेकिन भूख से व्याकुल यह किशोर फल तोड़कर भी खाने की हिम्मत नहीं जुटा सकता क्योंकि उनका जन्म सवर्ण परिवार में नहीं हुआ है। छीमियां तोड़ते देख ही तो ठाकुरों के लड़के उसे पीट डालते है। वह प्रश्न उठाता है–कैसे है जमीन सब की और पानी सबका? कहानी बताती है कि जिसका खेत, उसका पानी, उसी की मछरी। क्यों है ऐसा? क्यों बनी हुई है पाप और पुण्य के आधार पर अगले जन्म की व्यवस्था? मंत्री की आदर्श भरी बातें यह किशोर घर पर आकर बताता है, तो बपई का जवाब वस्तुस्थिति खोलकर रख देता है। उनका कहना है–'छोड़ इन बातों को। तबसे सुन रहा हूं जब सुराती झंडा ले के घूमता था।' समाज में ही बराबरी नहीं, तो व्यवस्था में हिस्सेदारी कहां से मिलेगी? कथांत में बपई की चुप्पी और चिलम की बुझती आग की आखिरी चमक बहुत कुछ कह जाती है। अधिक विस्तार में न जाकर भी कहानी स्पष्ट कर देती है कि अलग है चमरौटी। वह कुत्ते के नंगे और भूखे स्वर को सुनकर कैसे थर्रा उठी है!

स्वतंत्र भारत में बनी व्यवस्था तो जो है, सो है किंतु यदि 'रहमत मियां' सरीखी कहानी का प्रमुख पात्र इंसानियत की मिसाल बनना भी चाहे, तो उसे कैसे संघर्ष करना पड़ता है! यह बेऔलाद दरजी 2 अक्टूबर को जन्मे एक बच्चे को मोहन अली नाम इसलिए देता है कि उसे कहीं यह यकीन है कि इस देश में गांधी मार्ग पर चलना अच्छा माना जाएगा, पर उस बच्चे का स्कूल में प्रवेश कराना तक एक टेढ़ी खीर बन जाता है। समाज चाहता है कि यह बच्चा इंसान से भी पहले किसी हिंदू या मुस्लिम का हो। कथाकार नैरेटर तो रहमत और बच्चे की कहानी लिख गया, पर यह समाज भी लिखेगा कभी? रविंदर यहां एक भविष्य की उम्मीद की तरह है। अब वही लिखेगा सच्ची कहानी, जीवन से निकली। यह लेखक की सदिच्छा है नई पीढ़ी से।

कथाकार को मनुष्य की हर प्रकार की भेद–दृष्टि मनुष्यों के लिए अस्वीकार है। 'सीमा' कहानी में सरल संवेदना व तीव्र बुद्धि वाली इस नाम की लड़की अंगविकृति के कारण असहाय हो जाती है। उसके प्रति समाज के बर्ताव पर कहानीकार आलोचना करना चाहता है। उसके दर्द को बस जन्म लेने वाले मां–बाप ही समझ पाते हैं। कहानी बगैर हो–हल्ला किए कह जाती है कि असहाय भी मनुष्य हैं। उनके प्रति सहृदय हों।

'एक भटकी हुई मुलाकात' उस समय की स्त्री की कथा है, जब वह पुरूष की इच्छा पर ही रहने पर विवश थी। इस कहानी की अंजना , पहली पत्नी की तकलीफ समझता है रचनाकार। उसका सामना अपने ही पति की दूसरी पत्नी से संयोगवश ट्रेन में हो जाता है जिसके साथ उसका बेटा भी है जिस पर कानून ने पिता का हक दिया हुआ है। कहानी घटनाओं के बीच पुरूष सत्ता की कानून–व्यवस्था पर प्रश्न खड़ा करती है। पूछती है कि क्या बच्चे और वस्तु में कोई अंतर नहीं क्या

इस समाज में नैतिक अधिकारों के लिए जगह बनेगी? स्त्री की आजादी के बारे में तो बहुत बाद में आवाज उठनी शुरू हुई, लेकिन रामदरश जी इस पर अरसा पहले से सोच रहे थे। पत्नी सीमा का दर्द भी सामने है, जहां उसे सुधांशु कुछ समझता ही नहीं। स्त्री उसके लिए दोयम दर्जे की नागरिक है। उपेक्षा भरे रवैये की मारी। इस सबके बावजूद कथाकार मनुष्य के कमजोर मन को खूब पकड़ लेता है, जहां सुधांशु कुछ पूछ तक नहीं पाता। पर कुछ है, जो छूटता नहीं। यह बहुत बारीक-सी चीज है। यह बारीक सी चीज संवेदन तंत्र की वह भावुकता है जहां पुराने रिश्ते टूट भले जाएं, खत्म समूल नहीं होते। इसे अंजना द्वारा छोड़े गए उस पैकेट से भी समझा जा सकता है, जो मनोज नामक उसके बेटे के लिए है।

इससे भी अधिक प्रभावशाली है कहानी 'आखिरी चिठ्ठी'। इसकी प्रभा मानवीय संबन्धों पर विश्वास रखती है। बेहद संवेदनशील इस चरित्र को परिस्थितियाँ सहज नहीं रहने देती। यह वाचक के ननिहाल की एक पड़ोसी लड़की है, जो उसे अपना भाई मान लेती है। उसके पिता का निधन जिस तरह उसके और माँ के जीवन को नरक बना देता है, वह हमारे समाज में स्त्री की वस्तुस्थिति को उजागर करता है। यहाँ संबन्ध बोझ बन जाते हैं क्योंकि उनका आधाार अर्थ है, भावनाएँ नहीं। स्त्री की इच्छा का यहां कोई महत्व नहीं। न मायके में और न ससुराल में। इसकी नियति तो जो है, सो है, उसकी बेटी क्या अपनी राह बनाएगी? प्रभा के विद्रोह की अकांक्षा को सुनता है कलाकार। वाचक का यकीन है कि वह अपनी राह बताएगी।

यह कहानी का विचार का एक पक्ष है। पर यहां वाचक भी आत्म स्वीकृति भी गौरतलब है जहां वह यह महसूस करता है कि वह कुछ नहीं कर सका। वह बस कारणों से बंधाा रहकर अपने लिए तर्क खोज लेता है। दरअसल, यहां समाज का वह चेहरा बेनकाब होता है जिसके चलते स्त्री का होना पुरूष की इच्छा पर निर्भर करता है। वाचक अपने जीवन में व्यस्त रह जाता है, पर उसकी यह सदिच्छत जरूर है कि प्रभा की कहानी की पुनरावृति न हो। अपनी कायरता भी वह उजागर कर जाता है कि वह इतना साहसी भी नहीं कि प्रभा की बेटी को अपने साथ ले आये।

इस कहानी की तरह, रामदरश जी के अनेक कहानियाँ औपन्यासिक बनावट लिए हैं। वहां कथा वर्तमान से प्रारंभ होकर फ्लैश बैक में जाती है। अतीत की स्मृतियां ऐसे में कहानी को आवश्यक विस्तार देती है। उदाहरण के लिए कहानी 'विदूषक' ही लें। यह गांव की स्मृतियों से उभरा चरित्र है। बचपन का साथ जोगीराय खिलंदड़ स्वभाव का है। सबका तरह-तरह से मनोंरजन करता है। उसका यह स्वभाव किंतु स्थितियों की मार में बिला जाता है। वाचक श्रीधर उसके जीवन पर सोचता है तो पाता है कि अवसर मिलता तो जोगीराम भी परसाई की तरह कुशल व्यंग्यकार बन पाता। उसे तो सातवीं तक की पढ़ाई ही नसीब हो सकी। और फिर करनी पड़ी रेलवे में खलासी की नौकरी। परिवार ऐसा खड़ाहुआ कि बेटियों की शादी के बोझ ने उसे दबाकर रख दिया। किस्सा दर-किस्सा बुनी गई यह कहानी पढ़ने में एक ओर समय लगाती जरूर है, पर इसका संबन्ध जोगीराय के जीवन की त्रासदी से गहरा है। उसके इकलौते बेटे का होली के दिन लगाई आग में एक बच्चे को बचाने के प्रयास में निधन हो जाता है। जब जोगीराय के साथ बेटे के लगाव की यादें

है। वह भैंसो को बहुत प्यार करता था, इसलिए उन्हें बेच भी नहीं पाता। मित्र श्रीधर के गांव पहुँचने पर लंबे समय बाद होली हो रही है। इस दौरान वाचक यह समझने की चेष्टा करता है कि जोगीराय के उल्लास से दर्द फूट रहा है या दर्द से उल्लास। कथांत इतना मार्मिक है कि जैसे यहाँ पहुँचकर कहानी एक नई ही ऊँचाई पा जाती है।

जीवन स्थितियों की विवशता में फंसे पात्र रामदरश जी की कहानियों में बार-बार आते हैं। 'निर्णयों के बीच एक निर्णय' में भी मध्यवर्गीय विवशताओं के बीच कैसे एक व्यक्ति सहज नहीं एक जाता और उपेक्षा का शिकार होने लगता है! कवि होते हुए भी, कवियों के बीच भी उसे यही देखना पड़ता है। यही नहीं, उसे अपने ही सिद्धांतो से हटकर दूसरी राह पकड़नी पड़ जाती है। मार्क्सवाद से हटहर, वहन सिर्फ 'कल्याण' पढ़ता है, उसके आधार पर विवाद तक करने लगता है। उसका व्यवहार शरीफ लोगों के प्रति भी आक्रामक हो उठता है। रचना का उसका मार्ग ही परिवर्तित हो जाता है। बाहर से बाहर, घर तक में कोई उसे सहजता से स्वीकार नहीं कर पाता। खुद उसे भी पत्नी पर यकीन नहीं रह जाता। वह विचित्र फैंटेसी में जीने जरूर लगता है, पर उसे यह बर्दाशत नहीं कि कोई औरतों को छेड़ता फिरे।

यह कहानी, दबाब में बने मनुष्य के मनोविज्ञान को समझती है। दरअसल, यह ज्ञान नाम का व्यक्ति जीवन में खुद पर लाद दिए गए निर्णयों को भोगने पर अभिशप्त है। उन में उसकी कोई सहभागिता ही नहीं रही। यहां तक कि उसका विवाह भी उस पर लादा गया एक निर्णय ही है। यही कारण है कि वह दूसरे विवाह के बारे में सोचने लगता है। पर वह खुद पर भी निर्णय नहीं ले पाता। ऐसे में लोगों की दृष्टि में बेचारा बन जाता है। यह परिस्थियां उसे देखावे के व्यवहार पर खींच लाती है। यहां आते-आते वह मनोवैज्ञानिक असंतुलन से घिर जाता है। अपनी स्थिति से असंतुष्ट होते हुए भी प्रधानमंत्री के कहने पर भी उसका मैनेजर बनना स्वीकार नहीं करता। ख्यालों में ही सही, अपनी इच्छा पर जीता है।

इस कहानी का दूसरा पक्ष वाचक का है, जिसे दुख है कि वह अपने मित्र के लिए ही कुछ न कर सका। पर कथांत में उसे उन लोगों से वितृष्बा हो आती है जो ज्ञान का उपहास करते है। वह कार में उनके साथ बैठा होकर भी ज्ञान से जोर-जोर से बात कर यह जाहिर करता है कि उसे साथ के लोगों की कोई परवाह नहीं। यदि व्यक्ति समाज की एक इकाई है, तो समाज के लिए वह उपहास का पात्र कैसे हो सकता है! हम उसकी तकलीफ के कारणों को समझने और उन्हें दूर करने की कोशिश के बजाय उससे या तो कन्नी काटने लगते हैं या नगण्य समझ लेते हैं। यह एक तरह की स्टडी स्केच भी है।

रामदरश जी का कथाकार अपने समय और उसके प्रभावित कारकों की पहचान भी बड़ी गंभीरता से करता है। बताता है कि कैसे जेनुइन को तो महत्व मिलता नहीं और नेतागण प्रमुख बन बैठते है! 'नेता की चादर' जैसी कहानी बताती है कि शिक्षा संस्थानों के अतिथि गृह में भी पढ़े-लिखे व्यक्ति की सुविधा का ध्यान कोई नहीं रखता, जबकि नेता को उसकी मनपसंद सुविधाएं बराबर मिलती रहती हैं। यह कहानी ऐसे समाज सेवकों की असल छवि भी उजागर

करती चलती है। अच्छी बात यह है कि ऐसे चरित्रों के प्रति आम आदमी की वितृष्णा भी सामने हो आती है।

इसी क्रम में वह एक बुजुर्ग की एक दिन की डीटेल्ड डायरी लिखते हैं–'आज का दिन भी' में। अपनी डेढ वर्षीय पोती का साथ है और दिन भर के तमाम कार्य व्यापार। पोती मिटू की इन कार्यो के बीच एक रसवान उपस्थिति है। प्रथम पुरूष की इस कहानी का वाचक यंत्रिक ढंग से बंधकर काम करना नहीं चाहता। लेखक अवश्य है, पर अपने अब तक के लेखन पर ही संतुष्ट है। उसे यह भ्रम नहीं दूसरों की तरह कि अभी उसका श्रेष्ठ लेखन जाना शेष रह गया है। उसके लिए मिटटी की बाल मुदाएं रिलफ का काम करती है। यह वाचक साहित्य, समाज और उसके चलन पर आलोचना दृष्टि रखता है। उसे छोटे-छोटे व्यवधानों से उलझन हो जाती है, पर वह आत्मालोचना भी करता दीखता है कि कुछ को वह उपेक्षा-भाव से क्यों देखता है! उसकी मान्यता है कि लेखन सरल कार्य नहीं, साधना है। उसका समूचा दिन इसी सब में निकल जाता है। पोती सो रही है, तो उसके उठने की फिक होने लगती है। फिर एक ख्याल प्रकाश फैलाता है कि लिखना-पढ़ना ही तो सब कुछ नहीं होता, पोती का साथ भी तो हर घड़ी जीवंतता का एहसास कराता है!

यही है रामदश जी की सहजता। यह जीवन से जोड़ती है। जहां जीवन के सहज लक्षण नहीं, यह विमुख हो जाती है। 'उत्सव' ऐसी ही कहानी है। यहां उत्सवहीनता, दिखावे और अनुत्साह को वाचक एक्सपोज करता है। वह पाता है कि रंगीन भ्रमों की चमक में सत्य खो जाता है। उसके भीतर का सरल, अकृत्रिम देहात कसमसाता है, लेकिन महौल की निष्प्राणता और दिखावटी भंगिमाओं में झूठ खुलता जाता है और मुखौटे अनावृत होते रहते हैं। अपरिचय के इस महौल में मुख्य चरित्र खुद को असहज पाता है। उसे लगता है कि सर्वनामों की एक लंबी भीड़ में वह भी एक सर्वनाम बन गया है। उसे घुटन महसूस होने लगती है। अपरिचित भीड़ से निकल वह जल्दी से जल्दी मुक्त हो, निकल जाना चाहता है। उत्सव जैसे एक बोझ में बदल गया है।

रामदरश जी की कहानियों में कहीं चरित्र तो कहीं स्थितियां स्मरणीय बन जाती है। वह प्राय: उपलब्ध यथार्य से असंतुष्ट हैं। उनके साथ गांव, कस्वे, शहर और महानगर के अनुभवों का एक बड़ा संसार है पर उनकी कथा-दृष्टि उस जीवन को परिवर्तित करने की पक्षधर है जो संकट में जीने को विवश है। बोधगम्म कथा भाषा में वह खोते जा रहे शब्दों को सहेजते दिखाई देते हैं जो अलग ही तरह से आकर्षित करते है। वे ध्वनियों से उत्पन्न होते हैं, परिवेश की गंध से अनुप्राणित हैं और गवंई होते हुए भी अपनी ठसक के साथ चमकते हैं।

आप इन कहानियों को पढ़ेंगे, तो रूलाई को चांपना, छूत, छुड़ाना, हूंसा देना, भरभट्ट हो जाना, फिलासफी पहनकर घूमना, हूल सी मारना, डंक मारती हुई सुबहें, चभोरते बैठ जाना, झझक्क में सब कुछ डूब जाना, भेंट अंकवार, जोरू की करनी, हबसकर रोना, कोइरी ससुर पढ़ने चले हैं सरीखे अनेक प्रयोग भाषा को समृद्ध करते नजर आएंगे। यहां बनावटी भाषा नहीं, जीवन-व्यवहार से उपजी सहज-सरल जवान है जिसका मूल रूप हिन्दुस्तानी जबान में बसा है।

महेश दर्पण, सी–3/51, सादतपुर, दिल्ली–110090
मो. : 9013266057

✧ ✧ ✧

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा की समीक्षा-दृष्टि : सीमाएँ एवं संभावनाएँ

प्रगति चौधरी

आचार्य नलिन हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में एक विरल प्रतिभा हैं। इन्होंने अपनी समीक्षा-दृष्टि में आलोचना और आलोचक की नैतिकता के साथ रचना की नैतिकता पर भी बल दिया है। ये छायावादोत्तर काल के समीक्षक हैं। इन्होंने उत्तर छायावादकाल का प्रतिनिधित्व किया है। एक शिखर पुरूष के नाते इन्होंने युग के आंदोलनों, अंतर्विरोधों, विविध प्रयोगों आदि को अंगीकार कर हिन्दी समीक्षा को समृद्ध किया है। हिन्दी-समीक्षा के इतिहास में इनका रचनात्मक अवदान नवीन भावों, विचारों, अनुभूतियों, संवेदनाओं, आशाओं और आकांक्षाओं से युक्त है।

हिन्दी-समीक्षा अपनी अस्मिता के साथ रचनात्मक क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों की पहचान भी रही है तथा उसे प्रेरित और प्रोत्साहित करने का कार्य भी करती रही है। यही कारण है कि प्राचीन साहित्य के आधार पर निर्मित रूढ़िवादी समीक्षा-सिद्धांत से वह अलग-थलग भी हो गयी है तथा नवोन्मेष से प्रेरित रचना के मानस की पहचान के लिए अपने को सजा भी रही है और सँवार भी रही है। अस्तु समकालीन समीक्षा के समक्ष रचना के आस्वादन, रचना के मूल्य की पहचान, रचना और समाज के पारस्परिक संबंध, रचना और बुद्धिवाद की स्थिति रचना और शिल्प का स्वरूप, रचना और आधुनिकता बोध तथा रचना और साहित्येतिहास के अस्तित्व की पहचान की समस्याएँ उपस्थित हैं। कहा जा सकता है कि समकालीन समीक्षा का स्वरूप तत्वान्वेषी और रचनात्मक हो गया है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा की समीक्षा-दृष्टि भी इसकी अपवाद नहीं हो सकती है।

आचार्य नलिन की समीक्षा में व्यापकता, विविधता, सूक्ष्मता भावप्रवणता एवं तीक्ष्णता के दर्शन होते हैं। इसीलिए यह विविध मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं का साक्षात्कार करती है। रचनात्मक मानस में जब परिवर्तन घटित होता है, तब इनकी समीक्षा में भी नएपन के दर्शन हो जाते हैं। हिन्दी समीक्षा का स्वरूप और उसकी भावगत और विवेकगत प्रवृत्तियों में परिवर्तन आया तो उसके प्रतिमान की दिशाएँ भी बदल गयीं। आचार्य नलिन की

समीक्षा दृष्टि भी इसके आलोक में नानाविध उतार-चढ़ाव, उत्थान और अवसान के कठिन मार्गों से गुजरती हुई सैद्धान्तिक विन्दु पर पहुँच गयी है। सुप्रसिद्ध हिन्दी आलोचक डॉ. राम विनोद सिंह का यह कथन सारगर्भित ही लगता है- ''हिन्दी उपन्यासों की परंपरित सौन्दर्य शास्त्रीय पद्धति से विलग होकर चलने वाली जिस प्रौढ़ समानान्तर पद्धति का विकास स्वर्गीय आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के हाथों होना था, वह उनकी आकस्मिक मृत्यु से बाधित हो गया है।''[1]

आचार्य नलिन हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में एक विरल प्रतिभा हैं। इन्होंने अपनी समीक्षा-दृष्टि में आलोचना और आलोचक की नैतिकता के साथ रचना की नैतिकता पर भी बल दिया है। ये छायावादोत्तर काल के समीक्षक हैं। इन्होंने उत्तर छायावादकाल का प्रतिनिधित्व किया है। एक शिखर पुरूष के नाते इन्होंने युग के आंदोलनों, अंतर्विरोधों, विविध प्रयोगों आदि को अंगीकार कर हिन्दी समीक्षा को समृद्ध किया है। हिन्दी-समीक्षा के इतिहास में इनका रचनात्मक अवदान नवीन भावों, विचारों, अनुभूतियों, संवेदनाओं, आशाओं और आकांक्षाओं से युक्त है। इन्होंने परंपरा से चली आ रही समीक्षाओं की गति मंद कर अपनी शिराओं में उपलब्ध प्रवहमान ओजस्वी रक्तकणों के बल पर नीवन तीव्र लहरों को संचरित किया है। इसे देखकर ही हिन्दी के सौन्दर्यवादी समीक्षक डॉ. कुमार विमल ने ठीक ही लिखा है-''उनके भव्य भाल और उन्नत मस्तक से ही यह भाषित हो जाता था कि यहाँ एक व्यक्ति है जिसने विधाता की ओर से विशिष्टता पायी है और जिसके पास वाणी रसनाग्र नर्तकी बन कर उपस्थित है।''[2]

ये हिन्दी समीक्षा के विभिन्नवादों के विवाद से सदैव दूर रहे हैं। ये न तो मार्क्सवादी या प्रयोगवादी या प्रगतिवादी या आधुनिकतावादी भी नहीं रहे हैं। इन्होंने हिन्दी-समीक्षा की नयी आधार भूमि निर्मित करने की भरपूर कोशिश की थी पर इनकी सहसा मृत्यु हो जाने के चलते सब कुछ जस की तस शेष बची रह गयी थी। कहने वालों ने इन्हें रूपवादी समीक्षक कह कर आत्म संतोष की साँस ली है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध समीक्षक डॉ. गोपेश्वर सिंह ने लिखा है - ''नलिन जी न तो प्रगतिवादी शिविर में शामिल हुए, न तो प्रयोगवादी शिविर में। उनकी आलोचनात्मक कोशिश आलोचना की नयी आधार भूमि निर्मित करने की थी। उन्होंने आलोचना को अकादमिक रूढ़ियों से मुक्त किया ही, उसे परंपरा और आधुनिकता से जोड़कर नयी भंगिमा देने की रचनात्मक कोशिश की। नलिन जी को रूपवादी आलोचक कहा जाता है।''[3]

समीक्षा का उद्देश्य होता है जानना और जनाना। यही कारण है कि आचार्य नलिन ने हिन्दी साहित्य की प्राय: सभी विधाओं की समीक्षा की है। उन सबों में उनका अपना दृष्टिकोण है, स्वतंत्र चिंतन है और उन सबों की नवीन प्रस्तुति में इन्होंने कीर्तिमान बनाया है, प्रतिमान स्थापित किया है। साहित्य के सम्बन्ध में इनकी मान्यता है- ''साहित्य दर्पन नहीं, सृजन है, साहित्य ग्रामोफोन का रिकार्ड नहीं, शास्त्रीय और मौलिक संगीत है। साहित्य मिट्टी से पोषक तत्व प्राप्त करता है किन्तु अगर उसे मिट्टी से ज्यादा कुछ बनना है तो आकाश की ओर ऊपर उठना ही पड़ता है। वृक्ष धरती से प्राण रस पाता है तो वही धरती को उर्वर भी बनाये रहता है। साहित्य जीवन पर आश्रित रहता है तो वही उसे जीने लायक भी बनाता है।''[4]

नकेनवादी काव्य के दूसरे स्तंभ और आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के निकटवर्ती सहयोगी रहे हिन्दी गगनांगन के अति तेजस्वी नक्षत्र आचार्य केसरी कुमार ने इनकी समीक्षा के सम्बन्ध में गूढ़ बात कही है- ''वे उस सूत्र-शैली एवं व्यंजक गद्य के प्रणेता थे, जिसमें प्रत्येक शब्द का एक ही अर्थ होता है, वे आलोचना में मतगणना प्रणाली के प्रयोगकर्त्ता और प्रामाणिक समीक्षा-पद्धति के कल्पक थे।''[5] कहना न होगा कि आचार्य नलिन विलोचन शर्मा की समीक्षा-दृष्टि इसी कारागार में कैद है। मतगणना प्रणाली के द्वारा किसी रचना की उत्कृष्टता एवं लोकप्रियता की जाँच आचार्य नलिन जी के पहले और बाद में भी किसी साहित्यकार-समीक्षक ने नहीं की है। इस तरह ये एक प्रयोगवादी समीक्षक के रूप में हिन्दी समीक्षा साहित्य में जाने जाते हैं। ये सब इनके रचनात्मक अवदान के ही वाचक हैं, द्योतक हैं, सूचक हैं। इसे लक्ष्य कर हिन्दी साहित्य के समर्थ साधक डॉ. नगेन्द्र ने इनके विषय में लिखा है- ''आलोचना, कविता और कहानी ही उनके प्रिय विषय थे और इन तीनों में ही उनका दृष्टिकोण नितांत आधुनिक था। कभी-कभी मुझे आश्चर्य होता था कि संस्कृत की उस शास्त्र निष्ठ परंपरा में पोषित होने पर भी इस प्रकार की आधुनिकता उनमें कैसे आयी थी।''[6]

इन्होंने हिन्दी समीक्षा साहित्य में अपना रचनात्मक योगदान देकर उसे समृद्ध किया है। इन्होंने प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' के स्थापत्य पर जमकर कलम चलाई है। इनके पूर्व के आलोचकों ने 'गोदान' के स्थापत्य को शिथिल बताया था। इस पर आरोप मढ़ा गया था कि जब इसकी कथा नगर की ओर बढ़ती है, तब उसमें कृत्रिमता दिखती है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने इन आक्षेपों का माकूल जबाव दिया था। इन्होंने कहा था-''प्रेमचंद ने 19वीं शताब्दी के पिछले रवेबे के अंग्रेजी उपन्यासकारों के द्वारा विकसित उपन्यास स्थापत्य को उतना अधिकृत किया था, जितना उनके समकालीन हिन्दी के दूसरे उपन्यासकार नहीं कर पाये थे।''[7] हिन्दी उपन्यास में इन्होंने मत संग्रह प्रणाली नामक नयी समीक्षा-पद्धति का श्री गणेश किया था। इसे भी इनके समीक्षा साहित्य का रचनात्मक अवदान ही कहा जा सकता है। इसके विषय में सुप्रसिद्ध हिन्दी समीक्षक आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी ने सारगर्भित एवं महत्वपूर्ण बात कही है- ''कई वर्ष पूर्व उन्होंने हिन्दी के श्रेष्ठतम दस या बारह उपन्यासों की एक सूची तैयार करने के लक्ष्य से अपने अनेक मित्रों और परिचितों को पत्र लिखे थे और इस विषय में उनके जो उत्तर आये थे, उन सबको संख्यानुक्रम में सज्जित कर उन्होंने अपना लेख प्रकाशित किया था। न केवल यह प्रणाली नई थी, बल्कि इससे प्राप्त निर्णय भी असाधारण रूप से आकर्षक थे। यह मत संग्रह प्रणाली साहित्यिक समीक्षा में कितने नये तथ्यों का अभिज्ञान करा सकती है, यह हमें उसी समय ज्ञात हुआ था।''[8]

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने कम लिखकर भी समीक्षा के क्षेत्र में अधिक ख्याति पाई है। इन्होंने अपने आलोचनात्मक ग्रंथ 'दृष्टिकोण' में आलोचनाएँ लिखकर हिन्दी समीक्षा साहित्य में अपनी दमदार उपस्थिति दर्ज की है। इस आलोचना-पुस्तक में इन्होंने 14 आलोचनात्मक लेखों का संकलन किया है। इन्होंने उपन्यास, कहानी, कविता, निबंध, आलोचना आदि साहित्यिक विधाओं पर अपनी समीक्षा लिखी है। इनमें इनकी तेजस्विता, ऊर्जस्विता, मेधाविता आदि के दर्शन हमें सहजता से हो जाते हैं। इनके द्वारा की गयी समीक्षाएँ हमें तीन रूपों में देखने को मिल जाती हैं-

(क) पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबंधों के रूप में, (ख) संपादकीय टिप्पणियों के रूप में और (ग) पुस्तक-समीक्षाओं के रूप में।

अधिकांश हिन्दी समीक्षक यह स्वीकारते हैं कि इन्होंने हिन्दी में मार्क्सवादी समीक्षा का भरपूर विरोध किया था। फलत: वे सब उन्हें भाववादी और मनोविश्लेशणवादी समीक्षक के रूप में ही देखते हैं। दरअसल हिन्दी सहित्य की समीक्षा-दृष्टि में लगाया गया यह आक्षेप अन्यथा भी नहीं है कि अधिकांश हिन्दी समीक्षकों की इनके प्रति की गयी अवधारणाएँ सतही हैं। इनको कम पढ़कर या कम समझकर इनकी समीक्षा-दृष्टि पर लंबी-चौड़ी बहस कर दी गयी है क्योंकि इनके जीवनकाल में केवल एक ही इनकी समीक्षा पुस्तक 'दृष्टिकोण' प्रकाशित हुई थी। इनकी मृत्यु के पश्चात इनकी कई अनुसंधान परक पुस्तकों यथा- 'मानदंड', 'हिन्दी उपन्यास : विशेषत: प्रेमचंद', 'साहित्य तत्व और आलोचना' आदि प्रकाशित हुई थी। पर दुखद बात यह है कि इनकी मृत्यु के पश्चात इन पर बहुत कम लिखा गया है। फलत: इनकी समीक्षा-दृष्टि का सम्यक् आकलन-मूल्यांकन नहीं हो सका है। 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' इनकी एक प्रसिद्ध पुस्तक है। इसमें इन्होंने कई ऐसे तथ्यों का रहस्योद्घाटन किया है जो अपने आप में अप्रतिम एवं अनुपम हैं। हिन्दु समीक्षक प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद ने सच ही लिखा है' 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' विश्व आलोचना साहित्य को बिहार की सर्वथा मौलिक और अप्रतिम देन है। बिहार ने हिन्दी साहित्य का ही नहीं विश्व साहित्य का भी भंडार भरा है और यह काम आचार्य नलिन विलोचन शर्मा जैसी सफलता से विरले लोग कही कर पाते हैं।''[9]

इन्होंने अपनी समीक्षा-दृष्टि से हिन्दी समीक्षा को अकादमिक रूढ़ियों से मुक्त किया है। इतना ही नहीं, इन्होंने अपनी समीक्षा-दृष्टि से उपन्यास और कहानी दोनों साहित्यिक विधाओं की समीक्षा के लिए पृथक-पृथक मार्गों का सृजन एवं अबलंबन भी किया है। यही कारण है कि इन्होंने जिन प्रतिमानों के द्वारा उपन्यासों के भाव-बोध, दिशा-बोध एवं शिल्प की पहचान की है, उसी से हिन्दी कहानियों की समीक्षा नहीं की है। इन्होंने इसके लिए अपनी समीक्षा-दृष्टि को तीक्ष्ण-विकसित किया था तथा उसे उच्च सीमा तक पहुँचाया भी था। इनका नजरिया बेहद साफ था कि आज साहित्य एक पदार्थ है और उसका अध्ययन पदार्थ विज्ञान की दृष्टि से होना चाहिए।

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा की समीक्षा-दृष्टि की अपनी सीमाएँ हैं पर इससे होकर ही परवर्ती समीक्षकों की संभावनाएँ भी गुजरती हैं। इनकी समीक्षा-दृष्टि में 'गोदान' प्रथम और 'मैला आँचल' द्वितीय स्थान पर न केवल विराजमान है वरन लोकप्रियता के शिखर पर आसीन भी है। किन्तु तृतीय पद पर आसीन द्वारका प्रसाद रचित 'घेरे के बाहर' उपन्यास हिन्दी कथा साहित्य से

वहिष्कृत का जीवन जी रहा है। आचार्य नलिन की समीक्षा-दृष्टि इस पर पड़ी अवश्य थी पर पाठकों के बीच अपना यथोचित प्रभाव नहीं डाल सका था। यद्यपि आचार्य नलिन की समीक्षा-दृष्टि ने इस पर अपनी गहरी पैठ बनायी थी, तथापि पाठकों की मनः स्थिति असरहीन ही रही थी। इन्होंने तो दो टूक शब्दों में लिखा भी था- ''अज्ञेय और इलाचंद जोशी की तुलना में द्वारका प्रसाद ने 'घेरे के बाहर' में मनोविश्लेषण की शास्त्रीय प्रणाली अपनायी है और रोगी का इतिहास भी तैयार कर दिया है। द्वारका प्रसाद ने अज्ञेय की तरह यौन-जीवन के तथ्यों पर कवित्व पूर्ण शैली और वर्णनों का रेशमी आवरण नहीं रखा है, न ताली के सुराख से शयनागार की झाँकी भर दिखा कर निर्भीकता का श्रेय लेने की कोशिश की है।''[10] इस तरह हम देखते हैं कि आचार्य नलिन जी ने अपनी समीक्षा-दृष्टि में अपनी गहरी पकड़ द्वारा विवादास्पद रचना की विशेषताओं और दुर्बलताओं को स्पष्ट किया है। 'मैला आँचल' की प्रसिद्धि का कारण रचनाकार से अधिक समीक्षक का व्यक्तित्व है। वरना 'गोदन' के बाद हिन्दी उपन्यास साहित्य में दूसरा स्थान अज्ञेय कृत 'शेखर : एक जीवनी' को मिलना चाहिए था। यही इनकी समीक्षा-दृष्टि की सीमा और संभावना है। इनकी समीक्षा-दृष्टि रचना के पुनर्निर्माण का पक्षधर है, यह असंदिग्ध है।

इन्होंने अपनी समीक्षा-दृष्टि से हिन्दी समीक्षा को अकादमिक रूढ़ियों से मुक्त किया है। इतना ही नहीं, इन्होंने अपनी समीक्षा-दृष्टि से उपन्यास और कहानी दोनों साहित्यिक विधाओं की समीक्षा के लिए पृथक-पृथक मार्गों का सृजन एवं अबलंबन भी किया है। यही कारण है कि इन्होंने जिन प्रतिमानों के द्वारा उपन्यासों के भाव-बोध, दिशा-बोध एवं शिल्प की पहचान की है, उसी से हिन्दी कहानियों की समीक्षा नहीं की है। इन्होंने इसके लिए अपनी समीक्षा-दृष्टि को तीक्ष्ण-विकसित किया था तथा उसे उच्च सीमा तक पहुँचाया भी था। इनका नजरिया बेहद साफ था कि आज साहित्य एक पदार्थ है और उसका अध्ययन पदार्थ विज्ञान की दृष्टि से होना चाहिए।

इन्होंने अपनी समीक्षा-दृष्टि के अंतर्गत साहित्य के मूल्यांकन के लिए 'मुक्ति' और 'स्वच्छंदता' को आधार बनाया है। यदि साहित्य रूढ़िवादी मान्यताओं में घिरा रहेगा तो उसका उचित मूल्यांकन नहीं हो पायेगा। इसके लिए उसकी मुक्ति आवश्यक है वरना नये साहित्य का सृजन नहीं हो सकता है। इस तरह इनकी समीक्षा-दृष्टि में एक तरह का खुलापन है। बहुत हद तक ये आचार्य नलिन विलोचन शर्मा से प्रभावित थे और अपनी समीक्षा-दृष्टि में इन्होंने इसका विस्तार किया है। इन्होंने हिन्दी कथा साहित्य की जो समीक्षा की है, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इन्होंने छोटी कहानियों को आधुनिक युग के छिछलापन और शीघ्रता की वर्ण शंकर संतान बताया है। इस तरह साहित्य को दर्पण नहीं सृजन मानने वाले आचार्य नलिन विलोचन शर्मा की समीक्षा-दृष्टि अन्यतम है, अनुपम है और असाधारण गुण संपन्न है।

इन्होंने शोध को दो रूपों में माना है- (क) शोध और (ख) तात्विक शोध। हिन्दी में कबीर, सूर, तुलसी आदि पर असंख्य शोध कार्य हुए हैं जिस पर शोधार्थियों को पी.एच.डी. और डी. लिट् जैसी उपाधियाँ मिली है और मिल रही हैं। ये सब शोध शीर्षक के अंतर्गत परिगणित होते हैं। पर ये तात्विक शोध पर अधिक बल देते हैं। इस ओर विद्वानों का ध्यान कम गया है। इन्होंने

अपनी समीक्षा-दृष्टि में इसी पर अधिक बल देने की वकालत की है। इनकी तात्विक शोध विषयक मान्यता है कि साहित्य विषय का तात्विक शोध (Fundamental Research) न तो सर्वथा अज्ञात का आविष्करण होता है, न सुपरिचित का अनुशीलन, स्वल्प परिचित और गौण लेखक की उपेक्षित एवं दुर्लभ कृतियों का सश्रम संपादन और विश्लेषण ही तात्विक शोध माना जाता है। इसके तहत इन्होंने तात्विक शोध की भी अनेक कोटियाँ मानी हैं। कहा जा सकता है कि इन की समीक्षा-दृष्टि अत्युत्तम एवं अन्यतम है।

समासत: हम कह सकते हैं कि आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के पास राग तत्व एवं बुद्धि तत्व का मणिकांचन संयोग था। इसी के बल पर इन्होंने अपनी समीक्षा-दृष्टि को विकसित किया था। कई देशी-विदेशी भाषाओं के जानकार, अध्येता एवं समीक्षक होने के नाते इन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षा साहित्य का यथोचित अध्ययन किया था। इन सबों के समाहार रूप में इन्होंने जो हिन्दी समीक्षा साहित्य को दिया है, वह अन्यतम एवं अद्वितीय ही कहा जा सकता है। देशज शब्दों, मुहावरा, लोकोक्तियों आदि का अपने काव्य में प्रयोग न कर इन्होंने अपनी कविता को जितना विरल बनाया है, उसी अनुपात में हिन्दी समीक्षा लिखकर इन्होंने अपनी समीक्षा-दृष्टि को सरल भी बनाया है। यही इसकी सीमा है तथा यही इसकी संभावना भी है। इन्होंने अपनी समीक्षा-दृष्टि को नव्यरूप में प्रस्तुत कर हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है। अस्तु इसे हृदयंगम करने की नितांत आवश्यकता आज महसूस की जा सकती है।

<u>संदर्भ</u>

1. डॉ. राम विनोद सिंह, हिन्दी समीक्षा : सीमाएँ और संभावनाएँ, पृ. 119 (अनुपम प्रकाशन)
2. डॉ. कुमार विमल, नयी धारा, नलिन स्मृति अंक, सं. उद्यराज सिंह, पटना
3. डॉ. गोपेश्वर सिंह, आलोचक नलिन विलोचन शर्मा, समकालीन भारतीय साहित्य, साहित्य अकादमी है, मासिक पत्रिका, पृ. 11
4. आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, सहित्य : तत्व और आलोचना, पु. 32
5. आचार्य केसरी कुमार, साहित्य, नलिन स्मृति अंक, सं. शिवपूजन सहाय एवं केसरी कुमार, पृ. 05
6. डॉ. नगेन्द्र, वही, पृ. 77
7. आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, साहित्य, अक्टूबर, 1954 ई.
8. आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी, सहित्य, अक्टूबर 1961 ई. नलिन स्मृति अंक
9. प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद, परिसद्-पत्रिका, स्वर्ण जयंती अंक, पृ. 361
10. आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, हिन्दी उपन्यास: विशेषत: प्रेमचंद, पृ. 13-14

प्रगति चौधरी, शोध–प्रज्ञा, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया
मो0 : 7488091644

दलित साहित्य के दर्शन और उसकी वैचारिकता

आनंद दास

दलित सम्बन्धी साहित्य को प्राचीन दलित साहित्य और तत्पश्चात् के दलित सम्बन्धी साहित्य को आधुनिक दलित साहित्य कह सकते हैं। भाषिक दृष्टि से देखें तो संस्कृत युग, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तक भले ही दलित शब्द प्रकाश में न आया हो; किन्तु सामाजिक व साहित्यिक दृष्टि से जब हम दृष्टिपात करते हैं तो दलित साहित्य के लक्षण उनकी केन्द्रस्थ समस्या, उसके मुख्य तत्व तथा बीज प्रारंभ से ही दिखाई देते हैं। दलित साहित्य का उद्‌गम ही संघर्ष और आंदोलन से हुआ है। विश्व इतिहास की छठी शताब्दी (ई. पू.) धर्म-सुधार और मानव-धर्म की स्थापना का काल था।

'दलित' शब्द का अर्थ है कुचला हुआ, रौंदा हुआ, टूटा हुआ, खंडित हुआ, हिस्से हुआ, मसला हुआ आदि पर समाज और साहित्य के लिए शूद्र, अस्पृश्य, अनार्य, चांडाल, अंत्यज, पंचमवर्ण, दास, दस्यु, अवर्ण, अछूत, बाह्य, अतिशूद्र, डोम, बहिष्कृत, अन्त्य, अपवित्र, नामशूद्र, अन्त्यवासिन, हरिजन, पददलित, नवबौद्ध आदि शब्दों के रूप में प्रयुक्त होता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं - 'दलित' शब्द का अर्थ जाति-बोधक नहीं, बल्कि समूह की अभिव्यंजना देता है। सामान्य अर्थों में देखा जाए तो दलित वह है जो भारतीय समाज व्यवस्था में अस्पृश्य माना गया, दुर्गम पहाड़ियों, जंगलों में जीवन-यापन करने को बाध्य जनजातियों, बेगार करते, कम मूल्य पर श्रम करते श्रमिक, जरायम पेशा कही जाने वाली जातियां, बंधुआ मजदूर, वर्ण-व्यवस्था का अन्त्यज, जिसका आर्थिक, शैक्षणिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक शोषण हुआ है, जो जन्मना अछूत है, वही दलित की परिधि में आता है।''1 साहित्य में शोषित, पीड़ित, उपेक्षित मानव की असहाय दशा का चित्रण विविध रूप में किया जाता है, जैसे कि अस्पृश्यता एवं वर्ण-व्यवस्था का चित्रण, निम्न वर्ग पर होनेवाले अत्याचार एवं अन्याय का चित्रण, नारी की असहाय दशा का चित्रण, किसानों और मजदूरों के शोषण का चित्रण, निम्न वर्ग की मानसिक दशा का चित्रण आदि विभिन्न स्वरूपों के माध्यम से साहित्यकार जनचेतना को व्यक्त कर रहे हैं।

प्राचीनकाल में जैसे सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य, जैन साहित्य की धाराएँ विकसित हुई, मध्यकाल में सगुण भक्ति साहित्य, निर्गुण भक्ति साहित्य, सन्त साहित्य, सूफी साहित्य की विभिन्न धाराओं का विकास हुआ वैसे ही आधुनिक काल में छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी साहित्यिक धाराओं की तरह दलित साहित्य की धारा भी प्रवाहित हुई है। प्राचीन युग से लेकर आधुनिक युग तक दलित साहित्य का दर्शन और विचारधारा सामाजिक संघर्ष व आंदोलन का प्रतिफलन है। प्राचीन काल से ही दलित या शूद्र को अस्पृश्य समझा जाता था और उनका शोषण, उत्पीड़न और दलन किया जाता था। डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी के शब्दों में ''आधुनिक दलित साहित्य समानता, स्वतंत्रता, बंधुता एवं न्याय पर आधारित आदर्श समाज की निर्मिति का साहित्य है जो पारंपरिक व्यवस्था के सामाजिक परिवर्तन में अपनी अहम भूमिका का निर्वाह करता है। दलित साहित्य और उसका रचनाकार सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए व्यक्ति को शिक्षा, संगठन एवं संघर्ष और प्रज्ञा, करुणा एवं शील के विचार और व्यवहार से आंतरिक और बाह्य संघर्ष के लिए तैयार करता है। दलित साहित्य उन मूल्यों पर चोट करता है जो व्यक्ति एवं समुदाय के संघर्ष की राह में बाधा उपस्थित करते हैं। दलित साहित्य का रचनाकार सामाजिक न्याय के सिद्धांत के आधार पर जीवन की अन्तर्विरोधी स्थिति का अन्वेषण करता है और इस अन्तर्विरोध के कारणों का पता लगाता है। अपनी सार्थक अभिव्यक्ति के माध्यम से वह परिवर्तनकारी चेतना विकसित करता है और सामाजिक न्याय पर आधारित समाज की संरचना की कल्पना को आकार देने का हर संभव प्रयास करता है।''2

दलित सम्बन्धी साहित्य को प्राचीन दलित साहित्य और तत्पश्चात् के दलित सम्बन्धी साहित्य को आधुनिक दलित साहित्य कह सकते हैं। भाषिक दृष्टि से देखें तो संस्कृत युग, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश तक भले ही दलित शब्द प्रकाश में न आया हो; किन्तु सामाजिक व साहित्यिक दृष्टि से जब हम दृष्टिपात करते हैं तो दलित साहित्य के लक्षण उनकी केन्द्रस्थ समस्या, उसके मुख्य तत्व तथा बीज प्रारंभ से ही दिखाई देते हैं। दलित साहित्य का उद्‌गम ही संघर्ष और आंदोलन से हुआ है। विश्व इतिहास की छठी शताब्दी (ई.पू.) धर्म-सुधार और मानव-धर्म की स्थापना का काल था। यह समय भारतीय इतिहास और संस्कृति के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण था। यही वह काल है जब भारत में 'जैन' और 'बौद्ध' जैसे दो ऐसे मानवतावादी धर्मों का उदय हुआ, जिसने न केवल धर्म, बल्कि पारम्परिक समाजों को भी चुनौती दे दी। यज्ञ-हिंसा के विरुद्ध अहिंसावाद और धार्मिक-सामाजिक दृष्टि से मानवीय समानता का सिद्धान्त भारतीय धर्म और दर्शन में पहली बार लागू हुआ। दलित साहित्य के दार्शनिक और वैचारिक आधार स्रोत मैं गौतम बुद्ध को मानता हूँ। बुद्ध पहले व्यक्ति थे जिन्होंने ढाई हजार वर्ष पूर्व वर्ण-व्यवस्था पर जबरदस्त प्रहार किया। बुद्ध ने न केवल पुरोहितवाद और यज्ञ-हिंसा का विरोध किया, बल्कि जाति-प्रथा को भी सिरे से नकार दिया। ''बुद्ध ने ब्राह्मणवादी वेद, मंत्र, कर्मकाण्ड की निंदा की। वेदमंत्र को उन्होंने पंथहीन जंगल और जलहीन मरूस्थल कहा।''3

वैदिक दर्शन मूलतः काल्पनिक आत्मा-परमात्मा, पौराणिक मान्यताओं एवं अंधविश्वासों पर आधारित था, जिसे बुद्ध झूठी विद्या व आडम्बर मानते थे। यही कारण था, कि उन्होंने अपने

अनेक उपदेशों में अंधविश्वासों, झूठी परंपरा-संस्कृति, मान्यताओं तथा झूठी वैदिक विद्याओं के विरुद्ध नारा लगाया था। एक वासट्ट सूत्र है जिसमें चौंसठ के करीब श्लोक हैं। उन श्लोकों में बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था के सीधे विरोध में बातें कहीं हैं। वासट्ट सूत्र का मतलब ये था कि वशिष्ठ नाम का एक छात्र था जो बुद्ध से शास्त्रार्थ किया करता था। ये वो वशिष्ठ नहीं है, जिनका वर्णन रामायण या रामचरित मानस में आता है। वे दूसरे वशिष्ठ थे और वे भी ब्राह्मण थे। यही वासट्ट के नाम से पालि में प्रसिद्ध हैं। उसमें बुद्ध का 62वां श्लोक सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है। यह श्लोक वर्ण-व्यवस्था के खिलाफ लिखा गया है। जिसमें बुद्ध कहते हैं -

''न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मना वसलो होति, कम्मना होति ब्राह्मणो।।''4

अर्थात् जन्म से न कोई शूद्र होता है, न जन्म से कोई ब्राह्मण होता है बल्कि कर्म से ही शूद्र होता है और कर्म से ही ब्राह्मण होता है। त्रिपिटक में स्थान-स्थान पर बुद्ध द्वारा जाति और वर्ण-व्यवस्था के विरोध के संकेत मिलते हैं। 'मज्झिम निकाय' के 'घोटमुख-सुत्त', 'आश्वलायन सुत्त', 'माधुरिय सुत्त' तथा 'एसुकारि सुत्त' आदि अध्यायों के उदाहरणों से बुद्ध के वर्ण-व्यवस्था संबंधी अनेक शास्त्रार्थ और विरोधों का पता चलता है। डॉ. तुलसी राम कहते हैं ''वैदिक दर्शन मूलत: अंधविश्वासी मान्यताओं, कर्मकांडों एवं काल्पनिक आत्मा-परमात्मा की अवधारणाओं पर आधारित था, जिसे गौतम बुद्ध झूठी विद्या मानते थे। यही कारण था, जिसके चलते उन्होंने अपने अनेक उपदेशों में झूठी विद्याओं को पढ़ने, पढ़ाने, सुनने तथा सुनाने के विरुद्ध नारा बुलंद किया था।''5

बौद्ध धर्म मनुष्य और मनुष्यता की विचारधाराओं को प्रकट करता है और साथ ही वर्णवादी व्यवस्था का बहिष्कार करता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के आदिकाल में दलित साहित्य का अर्थ वेद और वर्ण-व्यवस्था विरोधी साहित्य माना जा सकता है। कंवल भारती ने इसी बात को इस प्रकार कहा है- ''लोकायत जनता का धर्म था........। उसने एक ऐसी विचार परम्परा को जन्म दिया जो वेद और वर्ण व्यवस्था विरोधी था। यह परम्परा बाद में बौद्धों, सिद्धों और नाथों से होती हुई मध्यकाल में दलित संतों तक पहुंची थी।''6

यह परम्परा बाद में बौद्धों, सिद्धों और नाथों से होती हुई मध्यकाल में संत साहित्य तक पहुंची है। मध्यकाल में दक्षिण भारत के आलवारों ने ही भक्ति की वह धारा बहायी, भक्ति स्त्री-पुरूष, ब्राह्मण-अब्राह्मण सबके लिए समान रूप से सेव्य बन गयी। बौद्ध धर्म के समानता दर्शन मानवीय एकता और जात-पात के विरोध का प्रभाव उस पर भी पड़ा। यही कारण है कि निम्बार्क, रामानुज, वल्लभ, रामानंद आदि सभी ने जाति-प्रथा के प्रति उदारता दिखाई। सिद्ध-नाथ संत, चर्यापद, जैन-बौद्धों के काव्य, सूफियों का काव्य, कबीर, नानक, रैदास तथा कई कवि या सुधारकों ने जाति-प्रथा, सांप्रदायिकता, प्रचलित रुढियों, बाह्यआडम्बरों का खंडन-मंडन, धार्मिक कर्मकांड, पिछड़ेपन की त्रासदी, अंधविश्वास, आदि का विरोध प्रखर रूप से किया। समस्त

परंपराओं या विचारधाराओं में दलित संतों की संख्या अधिक थी और तत्कालीन संप्रदाय बौद्ध धर्म और निर्गुण पंथ से प्रभावित था। मध्यकाल में कबीरदास तथा रैदास जैसे संतों ने इस धारा में अपना विशिष्ट योगदान दिया लेकिन यह योगदान वर्तमान जैसा नहीं है। कबीर आदि संतों ने जिस दलित विचारधारा का सूत्रपात किया था आगे चलकर इसकी विकासधारा हमें दिखाई देती है।

सामाजिक न्याय और सम्मान दिलाने के लिए प्राचीन काल से ही महात्मा बुद्ध, चार्वाक, कबीर, रविदास, गुरुनानक, चोखामेला, तुकाराम, धर्मदास, दादूदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास आदि जैसे कई कवियों सुधारकों, महापुरुषों ने यत्न किए हैं। आधुनिक काल तक आते-आते फूले, छत्रपति साहू महाराज, पेरियार, नारायण गुरु और डॉ. अम्बेडकर ने अपनी विचारधारा और दर्शन से दलित साहित्य को समृद्ध व विस्तृत फलक प्रदान किया। दलित साहित्य डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा से उसी प्रकार प्रभावित है जैसे प्रगतिवादी/प्रयोगवादी साहित्य में मार्क्स-एंगेल्स की विचारधारा से प्रभावित हैं। इसके साथ ही डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर का समतामूलक सिद्धांत है। बुद्ध और कबीर का अनीश्वरवादी दर्शन है। दलित आत्मकथा खुरदरे पत्थर को तराशकर मूर्ति बनाने जैसा है। दलित आत्मकथाएं सदियों से धर्म और जाति के आधार पर सामाजिक और आर्थिक शोषण का शिकार उन लेखकों के जीवन का वृतांत है जिनकी रचनात्मक दृष्टि महात्मा बुद्ध, ज्योतिबा फूले, अंबेडकर, कबीर और गुरु रविदास की धार्मिक और सामाजिक दृष्टि का प्रत्यक्ष असर है। हिन्दी साहित्य की लम्बी विकासयात्रा में विभिन्न विचारधाराओं में भाव ग्रहण करते हुए विभिन्न साहित्य धाराएँ विकसित हुई है। अतः दलित साहित्य के दर्शन और विचार भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा नवजागरण की सशक्त सर्जनात्मक अभिव्यक्ति है, जो देश, धर्म, जाति तथा लिंग से ऊपर उठकर 'मानवतावाद' को प्रतिष्ठापित करना चाहती है।

सन्दर्भ-सूची :

1. वाल्मीकि ओमप्रकाश, दलितः साहित्य अनुभव, संघर्ष और यथार्थ, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., प्रथम संस्करण - 2013 नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 67
2. सत्यप्रेमी डॉ. पुरुषोत्तम, दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, समता प्रकाशन, संस्करण - 2010, दिल्ली, पृष्ठ संख्या - 9
3. लबाना सिंह लवीन्द्र, भारतीय दलित साहित्य, पृष्ठ संख्या - 87.
4. ठाकुर डॉ. हरिनारायण, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, भारतीय ज्ञानपीठ, दूसरा संस्करण- 2010, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या - 184.
5. संपादक- 'गगन' यादव धर्मवीर, बहुजन वैचारिकी पत्रिका, जनवरी, 2016, अंक -1, पृष्ठ संख्या-66.
6. भारती कंवल, दलित विमर्श की भूमिका, पृष्ठ संख्या - 103

आनंद दास, सहायक प्राध्यापक, श्री रामकृष्ण बी.टी. कॉलेज (Govt. Spon.), दार्जिलिंग,
4 मुरारी पुकुर लेन, कोलकाता–67, मो. : 9804551685, ई–मेल : anandpcdas@gmail.com

✧ ✧ ✧

ख्यात ऐतिहासिक उपन्यासकार, कथाकार शरद पगारे से साक्षातकार

शकील अख्तर

प्रश्न-इन दिनों आपकी दिनचर्या क्या रहती है? इस में लिखने का वक्त आप कब निकालते है?

उत्तर - मैं ब्रम्ह मुहुर्त याने सुबह पाँच बजे उठ जाता हूँ। उस समय सारा वातावरण शांत रहता है। कहीं कोई शोर शराबा भी नहीं। परिवार भी सो रहा होता है। सुबह की फ्रेश वायु में फ्रेश होने के बाद मैं तकरीबन पौन घंटा वॉकिंग करता हुँ। उसके पहले पच्चीस मिनट अनुलोम विलोम तथा कुछ एक्सरसाइज। लेखन के लिए भी यह समय लाभकारी होता है। दिल दिमाग फ्रेश रहते है। लेखन के पहले याने पूर्व में लिखने को शांत चित्त पढ़ कर संदर्भ प्राप्त कर आगे की योजना लेखन की बनाता हूँ। एक दिन पहले ऐतिहासिक कथानक से संबंधित पुस्तकें इतिहास से संबंधित सामग्री पढ़ लेता हूँ। आपको जान कर प्रसन्नता होगी कि मेरे पास मेरी पर्सनल, घरेलू लायब्रेरी में तकरीबन 1500 से अधिक ऐतिहासिक पुस्तकें हैं। उनमें से कुछ रेअर हैं। 1820, 1906, 1910 तक के ऐतिहासिक ग्रंथ हैं जिन्हें मैंने दिल्ली-मुम्बई की फुटपाथ से सस्ते में खरीदी है। मैं सन् 1956 से 1991 तक इतिहास का प्रोफेसर रहा हूँ। अतः चालीस से अधिक वर्षो इतिहास पढ़ा, पढाया उस पर शोध किया है। इसने ऐतिहासिक कथानकों पर लिखने में बड़ी मदद की है। दोपहर तीन बजे के बाद इतिहास पुस्तकें पढ़ कर नए कथानक के लिए सामग्री जुटाता हूँ। इतिहास ही नहीं अन्य पुस्तकें खास

कर विश्व प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास खरीद लेता हूँ।

प्रश्न - क्या लेखन मूड पर निर्भर करता है या आप निरंतर लिखते रहते हैं? यह एक सामान्य प्रक्रिया है?

उत्तर - जहा तक लेखन का सवाल है आपको सूचित कर दूँ कि आचार्य चतुरसेन शास्त्री एवं श्री वृंदावनलाल वर्मा के बाद के दशकों में ऐतिहासिक कथानक, विषय वस्तु, भाषा शैली कथानक संबंधी वातावरण में मैंने काफी बदलाव किया है। ऐतिहासिक कथानक के उपचार भाषा शैली, कथानक अनुकुल वातावरण में मैंने काफी बदलाव किया है। मेरे विचारानुसार ऐतिहासिक कथानक, घटनाएँ एंव चरित्र इतिहास के सत्यों तथा साहित्य के काल्पनिक यथार्थ के सन्तुलित समन्वय से मैं तैयार करता हुँ। इस बात का विशेष ध्यान रखता हूँ कि न तो मैं इतिहास लिख रहा हूँ न साहित्य। ऐतिहासिक कथानकों, घटनाओं तथा इतिहास में वर्णित चरित्रों से मैं बिल्कुल छेड़छाड़ या तोड़ मरोड़ नहीं करता। लेकिन जहाँ इतिहास मौन हैं वहाँ मैं साहित्य के काल्पनिक यथार्थ का कथानक के अनुरूप खुल कर उपयोग करता हूँ। इस बात का विशेष ध्यान रखता हूँ कि मेरी यथार्थवादी साहित्यिक कल्पना कथानक में घुलमिल जाए। उसका अंग लगे।

जहाँ तक मूड का सवाल हैं जब मैं ऐतिहासिक कथानक पर काम करता हूँ चौबीस घड़ी कथानक और उसके चरित्रों, घटनाओं, व्यवहार, विसंगतियों, प्रेम, रोमांस, घृणा के मानवीय गुणों में डूबा रहता हूँ। अनेक बार घटना, व्यक्तित्व संबंधी दृश्य मानसपटल पर जीवंत हो जाते हैं। क्योंकि मेरी कल्पनाशील प्रज्ञा जीवंत हो जाती है। मै सिर्फ वर्णन कर देता हूँ। कल्पना का यथार्थ बैचेन कर देता है तब पूर्व संदर्भो के पढ़ने के बाद लिखने लगता हूँ। प्रकरण के पूरा हो जाने पर लिखना बंद कर देता हूँ। जबरन खींचता नही। हाँ तत्पश्चात अगले प्रकरणों के लिए इतिहास की मदद लेता हूँ। वह मार्ग सुझाते है। मानिसक प्रज्ञा में अगला प्रकरण पकता रहता है। पूरा होते ही मानसपटल पर सजीव होते ही लिखने बैठ जाता हूँ।

प्रश्न - गुलारा बेगम, बेगम जैनाबादी और पाटलिपुत्र की सम्राज्ञी जैसी कृतियों का लेखन किस तरह से हुआ? क्या आपके मन में इस तरह के पात्र पहले से थे? या आपने इतिहास पढ़ाते समय यह महसूस किया कि इन किरदारों पर लिखा जाना चाहिए?

उत्तर - ना! गुलारा बेगम का उल्लेख किसी इतिहासकार ने नहीं किया है। ताजुब की बात ये है कि 'गुलारा बेगम' का इतिहास नही जानता। उसके लिए मुगल शहजादे खुर्रम (शाहजहाँ) ने सन 1614 में ताजमहल से पहले बुरहानपुर से 15 किलोमीटर दूर करारा गांव की उतावली नदी के दोनो किनारों पर दो बारादरियाँ बनवाई। उन्हे एक पुल से जोड़ा और दीवाल उतावली नदी पर बनाई जिसके कारण उतावली नदी जलप्रपात बन बारादरियों और पुल के नीचे से बहती है। पूरे चाँद की रात पुल पर बैठने पर नजारा बड़ा शानदार दिलकश बनता है। भारत सरकार के पुरातत्व विभाग ने एक बारादरी पर प्लेट लगा कर लिखा है कि शहजादा खुर्रम (शाहजहाँ) ने सन् 1614 में अपनी

रखैल गुलारा की मुहब्बत में इन्हे बनवाया। ताज महल से 23 साल पहले इसे बनवाया। बिल्डिंग है इतिहास में नाम गायब है। तब मैंने इतिहास में शोधकर पाया कि सन् 1614 में शाहजादा खुर्रम अहमद नगर जीतने बुरहानपुर आया और बोरवाडी की मशहूर मासूम तवायफ से मिल उसे अपनी रखैल बना। इन बरादरियों के जरिए मुहब्बत का इजहार किया। यह उपन्यास इतिहास की सच्चाईयों व साहित्य के काल्पनिक यथार्थ के सन्तुलित समन्वय का सर्वोत्तम और बेजोड़ उदाहरण है। 'गुलारा बेगम' इतनी लोकमान्य और लोकप्रिय हुई कि उसका मराठी, उर्दू, गुजराती, मलयालम एवं पंजाबी में अनुवाद एवं प्रकाशन हुआ।

'गुलारा बेगम' की अपेक्षा 'बेगम जैनाबादी' के बारे में पर्याप्त सामग्री इतिहास में मिलती है। 'बेगम जैनाबादी' का पूरा नाम हीराबाई था। चूंकि वो बुरहानपुर के पास ताप्ती के उस पार के कस्बे, जैनाबाद की रहने वाली थी इसलिए शहजादा औरंगजेब ने उसका नाम 'बेगम जैनाबादी' रखा। जैनाबादी भी बुरहानपुर की बोरवाडी की बेहद हसीन नाच गाने में माहिर तवायफ थी। उसके और कटटर धर्मान्ध कैक्टसी किरादार की मुहब्बत की दास्तान का जिक्र समकालीन इतिहासकार इनायत उल्लाह ने अहकाम-ए-आलमगिरी में किया है। अब्दुल हामिद ने भी 'बादशाह नामा' में इसका जिक्र किया है। महान इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार ने भी औरंगजेब के आख्यान में इसे पेश किया है। औरंगजेब की मुहब्बत ने गहरे तक प्रभावित करने पर मैंने उपन्यास लिखा। एन.एस. डी. से संबधित दिल्ली की शितिज थिएटर ग्रुप ने इसका 10,11 अक्टुबर 2014 को दिल्ली के श्रीराम सेंटर, मंडी हाउस में मंचन किया।

महान सम्राट अशोक पर तो डा. विन्सेंट स्मिथ व अनेक इतिहासकारों के कई ग्रंथ लिखे। लेकिन उसकी माँ धर्मा को उपेक्षित रखा। धर्मा मोर्य युग की दैवीय सौदंर्य की मलिका थी। जो चम्पा के गरीब ब्राहमण की बेटी थी। वह सम्राट बिम्बसार को दे आया। इतिहास में उसका, बिम्बसार की सोलह पटरानियों का नाम नहीं हैं। मैंने यथार्थवादी कल्पना का उपयोग किया। सात खण्डी सुगांगेय राज प्रसाद का जो वर्णन समकालीन मेगास्थानीज, कर्टियस, एरियन ने किया है उसका उपयोग कर उस युग को धर्मा समेत पुनर्जीवित किया। रनिवास की अन्य रानियों ने उसे नाईन बना मालिश करने वाली बनाया। फिर वह पाटलिपुत्र की सम्राज्ञी एवं अशोक महान की माँ बनी। गरीब ब्राम्हण की बेटी के दासी से सम्राज्ञी बनने की यात्रा बड़े रोचक ढंग से शोध व कल्पना द्वारा पुनः सृजित कर नवजीवन प्रदान किया और यह सब एक वृहद्व ऐतिहासिक उपन्यास 'पाटलीपुत्र की सम्राज्ञी' के रूप में सबके सामने है।

प्रश्न - ऐतिहासिक परिप्रेक्ष के उपन्यासों को लेकर आपने किस तरह का अध्ययन और शोध कार्य किया? इससे लेखन को कैसे गति मिली?

उत्तर - इतिहास एवं साहित्य का काल्पनिक यथार्थ मेरे उपन्यासों की आधारशीला है। मेरे सारे पात्र ऐतिहासिक है। 'गुलारा बेगम' इतिहास से गायब है लेकिन उसकी ठोस उपस्थिती करारा गांव की

उतावली नदी के दोनो किनारों पर बारादरिया गवाही देती है। अत: सम्पूर्ण उपन्यास 'गुलारा बेगम' साहित्य के काल्पनिक यथार्थ की उपज है। 'गुलारा बेगम' में वर्णित मुगल कालीन भाषा, वेशभूषा, शाही-शानशौकत, शाही रस्मों रिवाज, शाही अदब कायदे सभी इतिहास से लेकर हुआ जो सजीव और जीवंत बनाया। 'बेगम जैनाबादी' भी इसका उदाहरण है। पाटलीपुत्र की सम्राज्ञी में प्राचीन भारत, खासकर मौर्यकाल की पुस्तकों से उस काल की भाषा, चाणक्य के अर्थशास्त्र में वर्णित सामग्री तथा नंदमोर्य कालीन भारत के इतिहास से सामग्री ले, उसे भी प्रमाणिकता दी। इसने गति दी।

प्रश्न - क्या आपके लेखन में किन्ही और लेखकों का भी प्रभाव रहा? आपने अनेक कहानियाँ लिखी हैं, कहाँ से प्रेरणा मिली?

उत्तर - हाँ! मुझे विश्वप्रसिद्ध विश्वमान्य विश्वलोकप्रिय रशियन लेखक का सर्वकालिक प्रिय कृति 'वार एण्ड पीस'-युद्ध तथा शांति तथा अंग्रेज साहित्यकार चार्ल्स डिकिन्स के विश्व प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'टेल आफ टू सीटिज' ने गहरे तक प्रभावित किया। 'वार एण्ड पीस' में उस युग के महानयोद्धा विजेता फ्रेंच सम्राट नेपोलियन के रूस के हमले व युद्ध जनित मानक सभ्यता, संस्कृति तथा सामान्य मानकों की हत्या का निष्पक्ष सृजन है। वहीं डिकिन्स के 'टेल आफ टू सीटिज' ने सन 1789 की फ्रेंच क्रांति में निदोर्षो का फांसी चढाने का कथा है। समय नायक है। युद्ध के बजाय शांति का उपदेश देता है। जो मानव कल्याण की पहली शर्त है ये ही डिकिन्स निदोर्षों के पक्ष का समर्थन करते है।

प्रेमचंद्र, जैनेन्द्र, शरत बाबू चटटोपाध्याय आशापूर्णादेवी, अमेरिकन कथाकारों खासकर स्टीफेन ज्वीग, मोपासा एवं एमिल जोला तथा इटालियन कथाकार अलबर्टो मोराविया ने मानवीय चरित्रों उसके जीवन की विसंगतियों, घृणा-प्यार, ईर्षा-द्वेष जैसी संवेदनात्मक भावनाओं का पात्रों की आत्मा में प्रवेश करा चित्रित किया है।

प्रश्न - आपने ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में गहन-विरल काम किया है। अब ऐतिहासिक उपन्यास लेखन की परम्परा समाप्त हो रही है। ऐतिहासिक उपन्यास लेखन का भविष्य क्या है?

उत्तर - ऐतिहासिक कथानक, खासकर ऐतिहासिक उपन्यास परिश्रम, कठोर, परिश्रम साध्य विधा है। कठोर परिश्रम उसकी पहली शर्त है। विषय से संबंधित इतिहास पुस्तकों का अध्ययन, शोध, विश्लेषण एवं मनन पहली माँग है। और डॉ. दीक्षित के शब्दों में आज कोई परिश्रम करना नहीं चाहता। ऐतिहासिक चरित्रों, वातावरण तथा वेशभूषा सामाजिक एवं व्यक्तिगत आचरण के साथ माने इतिहास की सत्यो के साथ साहित्य के काल्पनिक यथार्थ का संतुलित समायोजन की कृति को सजीव एवं जीवत बनाता है। ऐतिहासिक कथानक न तो पूर्णरूप से इतिहास है न ही साहित्य, दोनों का समन्वय के साथ उसमें रोमांस का तडका कथा को रोचक, मनोरंजक, पठनीय बनाता है।

हाँ! ऐतिहासिक कथानक संबंधी कृतियों के नवलेखन का भविष्य दुर्गम है। पर पूरा विश्वास है भविष्य के गर्भ में कोई टालस्टय या डिकिन्स छिपा बैठा है जो नवजीवन इसे प्रदान करेगा। भविष्य पर जीवन टिका है।

प्रश्न – इन दिनों क्या लिख रहे है? खास विषय पर काम कर रहे है?

उत्तर – हाँ! रानी रूपमती–अकबर की रूपकथा पर काम कर रहा हूँ। रानी रूपमती का सौदर्य, नृत्य, गायन, खास कर कविताऐं और सुलतान बाज बहादुर से उसका प्रेम व्यापार दुनिया भर के प्रेमियों को माण्डू हर वर्ष खींच लाता है। उसके चारो ओर कल्पनाओं का कुहासा है। जिसे छांट ऐतिहासिकता देने को प्रयत्नशील है। वो ओरछा की प्रवीणराय रूपसी, गया मण्डला की रानी दुर्गावती एवं मिया तानसेन की समकालीन थी। उसके बारे में इतिहास में बिखरी सामग्री को शोध के द्वारा ऐड कर रहा हूँ। और अकबर की कामुकता को भी ऐतिहासिक तथ्यों की मदद से उजागर कर रहा हूँ। इसीलिए उपन्यास का शीर्षक 'रानी रूपमती अकबर की रूपकथा' रखा है।

प्रश्न – आज की दुनियां टेक्नोलॉजी भागदौड़ से भरी है। पहले से बहुत अलग माहौल है। आपके लेखन पर इस सब का कैसे प्रभाव पड़ता है?

उत्तर – इसमें कोई शक नही गत दो दशकों में टेक्नोलॉजी ने जिन्दगी, विचार, व्यवहार, भाव संवेदना, खान–पान, वेशभूषा को गहरे तक प्रभावित किया है। नए लेखक सीधे कम्प्यूटर, लेपटाप पर लेखन कर सीधे प्रकाशन हेतु भेज रहे है। उनके पास समयाभाव है। रचना को दो तीन बार पढ़ उसमें संशोधन, परिवर्तन, जोड़–घटाव का समय नहीं है। परिणाम, कृति में कच्चापन रह जाता है। मैं पुरानी पीढी से हूँ। मेरी मान्यता हैं कि दिल, दिमाग, कलम और कागज पर लेखन सृजन के समन्वय बार बार पढ कर सुधारने, जोड़ने, फालतू सामग्री को निर्ममता पूर्वक सम्पादित करने पर वह सुगठित, पठनीय और गहरे समय तक दिल पर पाठक को प्रभावित करती है। प्रेमचंद्र, जैनेन्द्र की रचनाएँ उदाहरण हैं। छपने, रात बीतने के साथ लोकप्रिय होने के कारण न्याय नहीं हो पाता। मैं टेक्नोलॉजी विरोधी नहीं हूँ लेकिन साहित्य साधना का समर्थक हूँ।

प्रश्न – आपकी लेखकों से क्या अपेक्षा हैं। नए लेखकों को संदेश क्या देंगे?

उत्तर – साहित्य आत्मा, संवेदना और मानवीय व्यवहार भावों की अभिव्यक्ति हैं। युगानुरूप चीजें, व्यवहार, भाव और संवेदनाएं बदलती हैं। मगर प्रेम, स्नेह, राग, द्वेष, त्याग, बलिदान, मानवीय सहयोग सहायता शाश्वत है। नए लेखकों को खूब पढ़ना चाहिए। अध्ययन मार्ग दर्शन देता है। विश्वमान्य, विश्वप्रसिद्ध, रचनाकार और उनकी रचनाएं ही नए लेखकों के शिक्षक हैं। वे ही मार्गदर्शक गुरू हैं। उन्हें पढिए। तुलसी, कबीर, गालिब, टालस्टाम, डिकिन्स से श्रेष्ठ और उनकी रचनाओं से बडा कोई शिक्षक दूसरा नहीं।

प्रश्न – राजनेता, सियासत का अपने लाभ के लिए इतिहास का दुरूपयोग करते हैं। आपका क्या कहना है?

उत्तर – राजनेता और सियासत स्वार्थ के लिए सत्ता पर कब्जा करके इतिहास का दुरूपयोग करते हैं। आज का आम आदमी टेक्नोलॉजी, समाचारों, टी.वी. के कारण बहुत सजग है। भला बुरा जानता है। चिन्ता की जरूरत नहीं है।

प्रश्न – लम्बे समय तक प्रोफेसर रहे हैं। आपके समय और आज के माहौल में क्या अन्तर है?

उत्तर – आज की शैक्षणिक संस्थाएं राजनेताओं पाटियों द्वारा स्वलाभ हेतु दूषित कर दी गई है। शिक्षा सरस्वती मंदिर राजनीति के अखाड़े बन गए हैं। छात्रनेता का नया वर्ग कायम हो गया है। शिक्षक भी दूषित हो गए हैं। विभिन्न दलों के चमचों दिल्ली की प्रसिद्ध जे. एन. यू. ऐतिहासिक उदाहरण हैं। कन्हैया कुमार जैसे देशद्रोहियों के पास जे. एन. यू. का नेतृत्व छात्रों को कहाँ ले जाएगा सोच कर मन कांप जाता है और समाचार पत्रों, टी.वी. ने उनका प्रचार कर सहयोग दिया। आज देशद्रोही कहाँ नहीं हैं। देश प्रेम, जन सेवा, साहित्य का उन्नयन पीछ धकेल दिया है। चिंतित तो होना ही चाहिए।

प्रश्न – किसी देश काल के इतिहास का वर्तमान संदर्भो को वर्तमान संदर्भो में क्या वे सूचना देते हैं या ज्ञान में वृद्धि?

उत्तर – प्रसिद्ध इतिहासकार एच.जी. वेल्स एवं जेम्स का कथन है 'इतिहास विगत मानव के क्रिया कलापों का दस्तावेज है जो वर्तमान का मार्ग निर्देशन कर भविष्यवाणी प्रदान करता है।'

प्रश्न – आज के लेखन का स्वरूप कैसा है?

उत्तर – वर्तमान लेखक तीव्रगति के लेखक है। नए-नए विचार, भाषा, शैली का खासकर युरोपीय लेखकों के अनुयायी हैं। वह भाषा में तेजी से परिवर्तन कर रहा है। जिसके साथ चलना ना! भागना संभव नहीं। नए प्रयोग के स्थान पर नई जमीन का उपयोग, और भी उदाहरण चौंकाते हैं। सेक्स का खुला वर्णन, पिता ने यौन सुख के लिए हमें पैदा किया? जैसी बाते लिख देते है। आप स्वयं निर्णय करे?

शकील अख्तर, तृतीय तल, डी–346, स्ट्रीट नं.–12, बैंड गली, लक्ष्मी नगर, पूर्वी दिल्ली–110092
मो. : 9999155339

✧ ✧ ✧

संवेदनाओं को अभिव्यक्त करती कहानियाँ

डॉ. संजय चौहान

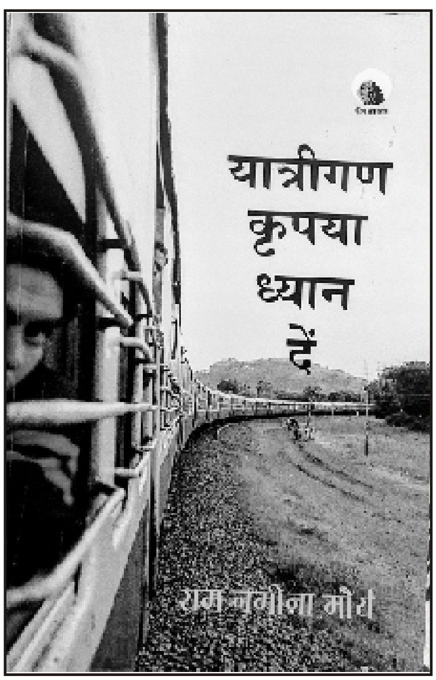

समकालीन साहित्य, जीवन की आवश्यकताओं और जटिलताओं से अधिकाधिक प्रभावित हुआ है। बाहरी चकाचौंध और भौतिकवादी मानसिकता से साहित्य की सभी विधायें प्रभावित हुई हैं। इसमें पश्चिमी जीवन शैली और सांस्कृतिक आक्रमण ने अहम भूमिका निभायी है। जिसके परिणाम स्वरूप साहित्यकार इसके कुप्रभाव से स्वयं को वंचित नहीं कर पाये हैं। परन्तु राम नगीना मौर्य जैसे कहानीकार हैं, जिन्होंने अपनी कहानियों को स्थानीय रहन-सहन, जीवन-मूल्यों और भारतीय जीवन, शैली से बांधे रखा है। **'यात्रीगण कृपया ध्यान दें'** कहानी संग्रह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। संग्रह में कुल 10 कहानियाँ हैं, जो अलग-अलग कथ्य पर आधारित हैं। इनमें लेखक भारतीय व्यक्ति और समाज के साथ ही भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को अपने पात्रों के माध्यम से व्याख्यायित करने में सफल हुआ है।

'यात्रीगण कृपया ध्यान दें' संग्रह की पहली और महत्वपूर्ण कहानी है। कहानी का मनोवैज्ञानिक प्रभाव इतना है कि संपूर्ण संग्रह में इसकी गूंज-अनुगूंज निरन्तर सुनी जा सकती है। लेखक ने बहुत ही सादगी और सहजता से रोजाना यात्रा करने वाले यात्रियों की मन: स्थिति को व्यक्त किया है। सुनहरे कपोल-कल्पना और कड़वे यथार्थ दोनों स्थितियों में व्यक्ति की मानसिक स्थिति क्या हो सकती है, यहाँ देखा जा सकता है।

'रोटेशन सिस्टम से' प्रतीकात्मक शैली पर आधारित कहानी है। कुर्सियों के माध्यम से मध्यवर्गीय परिवार की मानसिकता और जीवन-शैली को विवेचित करने में लेखक

सफल रहा है। रोज की दिनचर्या, क्रिया-कलापों और विचारों को परिवार के सदस्यों के जरिये कुर्सियों की जुबानी व्यक्त किया गया है। घर के प्रत्येक सदस्यों के रहन-सहन, आपसी संबंधों और जीवन शैली को यहाँ लेखक ने सहज ढंग से व्यक्त किया है। समसामयिक पारिवारिक जीवन के अन्तर्संबंधों की सजीवता को यहाँ देखा जा सकता है।

'उन्होंने नाम नरेश समथिंग बताया था' कहानी कार्यालयी परिवेश पर केन्द्रित है। कहानी का मुख्य पात्र नरेश है। उसने जिस दफ्तर में 35 वर्षों तक सेवा की, सेवामुक्ति के पश्चात् वह अपना काम करवाने के लिए कई वर्षों से उसी दफ्तर का चक्कर काट रहा है। सब कागजात ठीक होने के बावजूद भी दफ्तर में कार्यरत पूर्व सहकर्मी उसके काम को टाल रहे हैं। स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि इन दफ्तरों में कितना अनाचार और भ्रष्टाचार व्याप्त है। लेखक ने बड़ी निडरता और स्पष्टता से इन दफ्तरों की अनीति और कुव्यवस्था को उजागर किया है। आजीवन दूसरों के लिए समर्पित ईमानदार जैसे लोगों को न जाने कितनी परेशानियों का सामना करना पड़ता है।

'ठलुआ चिन्तन' कहानी में नाई की दुकान के जरिये स्थलों की ओर संकेत है, जहाँ जाने-अनजाने, शिक्षित-अशिक्षित विविध प्रकार के लोग एकत्रित होते हैं। यहाँ अक्सर अलग-अलग मुद्दों पर चर्चा-परिचर्चा होती रहती है। परन्तु लेखक ने जिस मुद्दे का उल्लेख किया है, वह है अतिक्रमण की समस्या की। इस समस्या से भारत का कोई भी नगर, महानगर, उपनगर अछूता नहीं है। इसमें राजनैतिक पार्टियों और व्यक्तियों का वर्चस्व अधिकाधिक है। नेता सार्वजनिक जगहों को अपनी बपौती, जागीर समझ उसका अतिक्रमण करते हैं। परन्तु शासन-प्रशासन द्वारा उन पर कोई कार्यवाही नहीं होती। आखिर प्रताड़ित किया जाता है गरीब। जैसा कहानी में पूड़ी, सब्जी बेचने वाली औरत के साथ हुआ।

'फुटपाथ पर जिन्दगी' ऐसे लोगों की प्रतिनिधि कहानी है, जो साधनहीन हैं। आजीविका का कोई साधन नहीं है। ऐसे में फुटपाथ पर अपनी छोटी दुकान लगाकर अपना और अपने परिवार के लिए दो वक्त की रोटी की व्यवस्था कर पाते हैं। परन्तु यह कार्य भी उतना सरल नहीं है, जितना दिखता है। उन्हें नित्य नयी समस्याओं को झेलना पड़ता है। दलालों, दबंगों और मुफ्तखोरों के अमानवीय व्यवहार का शिकार होना, उनकी रोज की नियति बन चुकी है। फिर भी, इतना कुछ सहन करने के पश्चात भी इनके भीतर की इंसानियत मरी नहीं। किसी अभावग्रस्त को देख इनके भीतर की मानवीयता उसकी सहायता के लिए आगे बढ़ती है। कहानी में फुटपाथ पर दुकानदार द्वारा एक भूखी गरीब लाचार स्त्री को मुफ्त खाना खिलाना इसका जीवंत उदाहरण है।

'बेचारा कीड़ा' व्यक्ति के द्वन्द्वमानसिकता की कहानी है। जहाँ व्यक्ति के जीवन में निरंतर द्वन्द्व (उलझाव) की स्थिति बनी रहती है। व्यक्ति की अधिक और अधिक पाने की लालसा इतनी बढ़ जाती है कि वह अपने स्वार्थ के इतर कुछ नहीं देखता। फिर वह असंतोष और लालचवश भटकाव की स्थिति में आ जाता है। परन्तु अक्सर ऐसा देखा गया है कि अधिकाधिक पाने की इच्छा में उसे कुछ भी हासिल नहीं होता। नुकसान ही नुकसान है। कहानी का पात्र समर भी ऐसी मानसिकता का व्यक्ति है। वह प्रेम को अलग पैमाने पर तौलता है, अलग-अलग लड़कियों को एक साथ प्रेम में छलता है। परन्तु अन्ततः समय भी उसके साथ छल करता है। एक समय ऐसा भी आता है कि उसके पास विवशता, पछतावा के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं बचता।

'से चलकर के रास्ते, को जाते हुए' एक कामकाजी मध्यवर्गीय व्यक्ति की मन स्थिति को व्यक्त करने वाली कहानी है। चौबीस घंटे ऑफिस के काम के बोझ तले दबे रहना, छुट्टी वाले दिन भी बॉस की अधीनता से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाना, उसे परिवार और समाज से अलग कर देता है। कहानी का पात्र घरवालों के लिए केवल पैसे कमाने का मशीन है। पत्नी को उसकी कोई आदत पसंद नहीं। प्रत्येक काम में टोका-टाकी उसकी आदत सी बन गई है। दिन भर ऑफिस में काम करने वाले व्यक्ति की परिवार में क्या स्थिति है, यहाँ स्पष्ट देखा जा सकता है। ऑफिस के काम और बॉस के दबाव में वह भावना शून्य बन जाता है। एक व्यक्ति प्रतिदिन किन-किन हालातों से गुजरता है, यहाँ स्पष्टत: देखा जा सकता है।

'फिर जहाज पर आयो' कहानी सेवा मुक्त व्यक्ति की रोज की दिनचर्या पर आधारित है। सदैव व्यस्त, क्रियाशील, कर्मठता और व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति अक्सर जीवन के एक पड़ाव पर आकर बोझिल और निराशापूर्ण जीवन जीने के लिए बाध्य हो जाता है। परन्तु ऐसा सभी के साथ नहीं होता। आशान्वित व्यक्ति अतीत के सुनहरे क्षणों का स्मरण कर जीवन-बोझिलता को दूर करने का सार्थक प्रयास भी करते है। कहानी में साहित्य और साहित्यकार की सजगता नियमितता और सकारात्मक चिन्तन की ओर भी लेखक ने संकेत किया है।

'तुमने कहा जो था' पारिवारिक, सामाजिक के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक कहानी भी है। सुनेत्र और सत्यजीत के माधयम से कहानीकार, दाम्पत्य जीवन की बारीकियों को चित्रित करने में सफल रहा है। यह सत्य है कि जैसे-जैसे समय व्यतीत होता है, वैसे-वैसे संबंधों में बदलाव अवश्य आता है, परन्तु आत्मीय संबंध, मधुरता किसी न किसी रूप में जीवंत अवश्य रहती है। फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान जीवन-पद्धति भौतिक सुख-साधनों पर आश्रित हो गयी है। परन्तु भारतीय परिवार में आत्मीय संबंधों की गाँठें भावनात्मक स्तर पर अभी भी मजबूत हैं। तभी तो सत्यजीत न चाहते हुए भी अपनी पत्नी सुनेत्र के पास पहुँचता है।

'शेष भाग आगामी अंक में' एक बुजुर्ग लेखक और एक युवती के मध्यम उत्पन्न गलतफहमी पर आधारित है। जिसका निराकरण लेखक ने पात्रों के माध्यम से अत्यन्त रोचक ढ़ंग से किया है। व्यक्ति के जीवन में ऐसा होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। परन्तु इसका समाधान सहजता से कैसे हो, कहानी और इसके पात्रों से सीखा जा सकता है।

'यात्रीगण कृपया ध्यान दें' संग्रह की सभी कहानियाँ अलग-अलग कथ्य को आधार बनाकर लिखी गई हैं। जीवन में घटित होने वाली छोटी-छोटी घटनाओं और आधुनिक परिवेश के प्रभाववश हमारी मन: स्थिति को लेखक ने जितनी सहजता और सजगता से कथा रूप में उकेरा है, वह अत्यधिक महत्वपूर्ण है। कहानियों को पढ़ते हुए कहीं भी भाषिक दुराग्रह नहीं मिलता। हाँ, स्थानीय और क्षेत्रीय भाषा, शब्द, कहावतें एवं जीवन-शैली को कहानियों में देखा जा सकता है। जिसके कारण कहानियाँ अधिक रोचक बनी हैं। संवाद स्तर पर लेखक छोटे-छोटे संवादों के जरिये अपनी बात रखने में सफल रहा है। कथ्य, कथानक और प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से संग्रह महत्वपूर्ण है।

डॉ. संजय चौहान, हिन्दी विभाग, सरकारी कॉलेज, लाधोपुर, अमृतसर (पंजाब)
मो. : 9478440472, ई–मेल : sjc78650@gmail.com

✧ ✧ ✧

उमाशंकर चौधरी की कविताओं में लोकतंत्र विमर्श के विभिन्न आयाम

रेश्मा एम. एल.

भ्रष्टाचार लोकतांत्रिक व्यवस्था की सबसे प्रबल चुनौती है। आज हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था में भ्रष्टाचार का बोलबाला है। उमाशंकर चौधरी की कविता 'अब वह हत्या कहाँ है' , 'हमें कुछ पता नही' कविता में और 'कहते है तब शाहंशाह सो रहे थे' में न्याय व्यवस्था पर व्याप्त भ्रष्टाचार का चित्रण है। लोकतांत्रिक व्यवस्था का सबसे प्रमुख उपकरण न्याय व्यवस्था है। वहाँ भी आजकल भ्रष्टाचार का बोलबाला है। यह भी बिलकुल खतरनाक है। न्यायव्यवस्था में जिन लोगों को अधिकार प्राप्त है उनके लिये बड़ा अपराध भी नगण्य है।

भारत एक लोकतंत्र राष्ट्र है। यहाँ जनता केलिए जनता द्वारा चयनित जनता की सरकार है। लेकिन आज हमारे देश की राजनीतिक व्यवस्था के भीतर अनेक अन्याय दिखाई दे रहे है। भारतीय समाज और साहित्य में लोकतंत्र का महत्व बहुआयामी है। यहाँ की लोकतंत्र व्यवस्था में अपराधी तत्वों का काफी समावेश हुआ है। आजकल लोकतंत्र दूषित राजनीति का शिकार बनता जा रहा है। राजनीतिक क्षेत्र में अनेकता बरकरार है जिसकी वजह से लोकतंत्र का अपचय हो रहा है। राजनीतिज्ञों के मूल्यहीन चरित्र, खोखलेपन, भ्रष्टाचार, माफियाकरण, भ्रष्ट न्यायव्यवस्था, सरकार की निष्क्रियता, देश का अनिश्चित भविष्य, कागजी योजनायें आदि समाज की गंभीर समस्यायें हैं, जो इक्कीसवीं सदी की हिंदी कविताओं में व्यापक रूप से चित्रित है। इक्कीसवीं सदी के हिंदी कवियों ने समकालीन लोकतंत्रिक व्यवस्था का व्यंग्य और चुनौतीपूर्ण रूप से यथार्थ का चित्रण किया है।

इक्कीसवीं सदी की कविता के क्षेत्र में उभरने वाले व्यक्तित्व के रूप में उमाशंकर चौधरी को जाना जाता है। उमाशंकर चौधरी की कवितायें मूलतः राजनीतिक है और उनकी विषयवस्तु का क्षेत्र व्यापक भी है। उनकी कविताओं में ग्रामीण और कस्बाई जीवन की तमाम विडम्बनाओं के साथ राजनीतिक परिदृश्य पर सीधा और तीक्ष्ण व्यंग्य भी देखा जा सकता है।

इक्कीसवीं सदी में लोकतंत्र पर और राजनीति पर कविता रचने वालों में प्रमुख उमाशंकर जी है। उमाशंकर चौधरी की कविताओं का मूल स्वर राजनीतिक है। चौधरी जी की अधिकांश कविताएं लोकतांत्रिक व्यवस्था को खत्म करनेवाले घटकों को लेकर रचित हैं।

भ्रष्टाचार लोकतांत्रिक व्यवस्था की सबसे प्रबल चुनौती है। आज हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था में भ्रष्टाचार का बोलबाला है। उमाशंकर चौधरी की कविता 'अब वह हत्या कहाँ है', 'हमें कुछ पता नही' कविता में और 'कहते है तब शाहंशाह सो रहे थे' में न्याय व्यवस्था पर व्याप्त भ्रष्टाचार का चित्रण है। लोकतांत्रिक व्यवस्था का सबसे प्रमुख उपकरण न्याय व्यवस्था है । वहाँ भी आजकल भ्रष्टाचार का बोलबाला है। यह भी बिलकुल खतरनाक है। न्यायव्यवस्था में जिन लोगों को अधिकार प्राप्त है उनके लिये बड़ा अपराध भी नगण्य है। लेकिन गरीब की छोटी सी गलती भी बड़ा अपराध बन जाती है। देखिए –

''जिसने चुराए थे सिर्फ सौ रुपए
उसे कैसे खुले आम पीट –पीट कर दिया गया अधमरा
जिसने चुराए थे ब्रेड के मात्र दो टुकड़े।''1

लोकतांत्रिक व्यवस्था का आधार जनता है। जनता का वोट है। चुनाव आते ही राजनीतिक पार्टियों द्वारा मतदाताओं को लुभाने की कोशिश तेज हो जाती हैं। चुनाव में व्याप्त भ्रष्टाचार का चित्रण चौधरी जी की 'इस विकसित दौर में' कविता में चित्रित है । ''हत्यारों का भी अब अपना एक बाजार है''

''जहाँ बिकते है हत्यारे और
खरीदी जाती है मृत्यु''।2

आज हमारे देश में प्रत्येक सरकारी कार्यालयों और गैर सरकारी कार्यालयों में भ्रष्टाचार कूट-कूट कर भरा हुआ है जिसके कारण आम आदमी बहुत परेशान है। किसानों की आत्महत्या भी सरकारी कार्यालयों में व्याप्त भ्रष्टाचार का परिणाम है। इसका चित्रण उमाशंकर चौधरी की कविता 'किसान बैठा है खेत की आड़ पर' कविता में देख सकते हैं।

''जिसे लेने गये किसान को सुनना पड़ता है
उस बैक में कि
बाउंस हो गया है चेक, जिसमे बसी थी
रूह उसके मृत बेटे की और
जिसमे बची थी बहू और दोनो बेटियो की इज्जत को
ढकने की थोड़ी सी गुंजाइश।''3

चौधरी जी की कविताओं में लोकतांत्रिक व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार के विभिन्न पहलुओं का चित्रण है। नेताओं की कथनी और करनी में आयी भिन्नता का चित्रण चौधरी जी की कविताओं में है। 'प्रधानमंत्री पर अविश्वास' कविता में स्वयं चौधरी जी कहते हैं;

''आजकल मैं जितना भी बातों को देखता और सुनता हूँ
उनसे सबसे अधिक मै
प्रधानमंत्री की बातों पर अविश्वास करता हूँ
........वैसे तो इस लोकतंत्र में मुझसे लगभग
यह वचन लिया गया था कि
मैं कम से कम प्रधानमंत्री की बातों पर अविश्वास करता हूँ।''4

इस प्रकार लोकतांत्रिक व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार की पोल खोलने में चौधरी जी की कविताएं सक्षम दिखाई देता है।

भारत में जाति व्यवस्था प्राचीन काल से अस्तित्व में आयी थी लेकिन उसकी जड़ें आज भी भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों में है। भारत में आजादी के बाद जातिवाद पर आधारित भेदभाव पर प्रतिबंध लगाने केलिए कानून की व्यवस्था की गई थी। भारतीय लोकतंत्र पर जातिवाद का प्रभाव प्रत्येक क्षेत्र एवं प्रत्येक स्तर पर दिखाई देता है। लोकतंत्र में व्याप्त एक प्रमुख समस्या जातिवाद है क्योंकि भारत में चुनाव के समय मतदाताओं का व्यवहार भी जातिवाद से प्रभावित रहता है। चुनाव में मतदाता प्राय: जाति के आधार पर मतदान करते हैं। भारतीय लोकतंत्र को जाति के जहर से बचाने के लिए सरकार को कुछ कदम उठाना अनिवार्य है। राजनीतिक दल जाति को लेकर आपस में हत्या करने में भी नहीं हिचकते हैं। सत्ताधारियों के मन में भी जाति की लहर है । लोकतंत्र में व्याप्त जातिवाद अनेक राजनीतिक हत्याओं का कारण बन चुका है। चौधरी जी की कविता 'इस विकसित दौर' की कुछ पंक्तियाँ देखिए, जो जातिवाद से संबंधित हत्याओं पर इशारा करती है।

''परंतु सोचने को यह सोचा जा सकता है कि
अगर एक दिन इस देश के सारे हत्यारे मिलकर
यह निर्णय ले ले कि अब वे
इशारे पर हत्या नही करेंगे
तब इस देश की राजनीति का क्या होगा?''5

भारतीय लोकतन्त्र में व्याप्त जातिवाद और उससे संबंधित हत्या सब लोकतंत्र के लिए हानिकारक है। इसलिए उसको मिटाने केलिए जाति पर आधारित राजनीतिक दलों को समाप्त कर देना चाहिए, जातिवाद के समाधान के लिए जनता का शिक्षित होना अति आवश्यक है। चौधरी जी की कविताओं में जातिवाद को लेकर आयी हुई समस्याओं का चित्रण है।

भारत एक बड़ा लोकतांत्रिक देश है। परंतु इसके समक्ष आज अनेक चुनौतियाँ है, जिसमें सांप्रदायिकता भी है। जब तक सांप्रदायिकता का निवारण नहीं हो जाता तब तक भारत संपूर्ण विकास दीप पा सकता है और ना ही शुद्ध रूप से लोकतंत्र की स्थापना हो सकती है। धर्म और संप्रदाय के विरुद्ध भेद भाव रखना और दूसरे धर्मावलंबी लोगों को हानि पहुँचाना ही सांप्रदायिकता है, यह धर्म की गलत व्याख्या है। धर्म का भारतीय राजनीति पर सदैव ही प्रभाव रहा है और धार्मिक

भावनाओं ने ही देश की राजनीति और सामाजिक एकता को आघात पहुँचाया है। धर्म के नाम पर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच झगड़े होते रहे हैं और अंत में इसी धर्म के नाम पर भारत का विभाजन भी हुआ । विस्थापन की त्रासदी का चित्रण उमाशंकर जी द्वारा लिखित 'दौलतसिंह नारंग' कविता में देख सकते है। चौधरी जी की कविता 'जाहिरा शेख' की कुछ पंक्तियाँ देखिए –

''अगर जानना हो आपको
इस देश के लोकतंत्र का
पोर ;पोर
और जानना हो कि
आखिर मनुष्य
ईश्वरवादी कैसे हो जाता है
तब आप किसी हत्या का चश्मदीद गवाह बन जाएँ''।6

भारत में सांप्रदायिकता की समस्या की मुख्य संकीर्णता दलीय तथा चुनावी राजनीति है। सांप्रदायिकता के कारण राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न होती है। लोकतंत्र को सांप्रदायिकता के विषैले प्रभाव से बचाने के लिए सरकार को अपनी धार्मिक तुष्टीकरण की नीति का त्याग करना चाहिए। सांप्रदायिक संगठनों पर कानून द्वारा कठोर प्रतिबंध लगाना चाहिए। राजनीतिक दलों द्वारा अपनी स्वार्थपरकता का त्याग करना चाहिए। सांप्रदायिकता को दूर करने का सशक्त माध्यम शिक्षा है। सही शिक्षा से राष्ट्रीय भावना पैदा होती है और सांप्रदायिकता दूर हो जाती है। सांप्रदायिकता से युक्त समाज में लोकतंत्र सुरक्षित नहीं है।

लोकतांत्रिक व्यवस्था के सामने अधिनायकवाद एक चुनौती है। वास्तव में लोकतांत्रिक व्यवस्था की नीतियों के एकदम विरुद्ध अधिनायकवाद है। अधिनायकवादी प्रणाली में निर्णय लेने की प्रक्रिया नेतागणों की इच्छाओं पर पूरी तरह निर्भर है। हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी कुछ नेताओं की मानसिकता अधिनायकवाद से एकदम प्रभावित है। उमाशंकर जी की कविताओं में नेताओं के मन में व्याप्त अधिनायकवाद की झलक दिखाई देती है। चौधरी जी की कविता 'काँमरेड' में एक ऐसे नेता का चित्रण है, जो स्वयं को काँमरेड मानता है और उसी के आधार पर शासन करता है। लेकिन 'काँमरेड' का वास्तविक अर्थ भी वह नहीं जानता। कुछ नेता लोग दिखावे के लिए कुछ करके सत्ता ग्रहण करते हैं। वास्तव में वे लोग आम जनता के लिए नहीं बल्कि अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए काम करते हैं। नेता जनता का सेवक है। लेकिन आजकल के नेता जनता को अपना सेवक मानते है। यह भी अधिनायकत्ववाद के प्रभाव के कारण है। अधिकार प्राप्त होने के बाद नेता में आये परिवर्तन का चित्रण चौधरी जी की कविता 'लालकिले का रामलीला मैदान' में देख सकते हैं;

''वे नहीं जानते हैं इस देश की आर्थिक विकास दर
वे नहीं जानते हैं सैंसेक्स की उछाल का मतलब
उन्हें नहीं मालूम दै गरीबी रेखा के नीचे रहनेवालों की संख्या ....

.........जिनको जानना इस देश को जानना है।''7

आज जनता के लिये नेता से मिलना नामुमकिन बन गया है। चौधरी जी कविता 'प्रधानमंत्री को पसीना' में इसका चित्रण देख सकते हैं ;

''प्रधानमंत्री से मिलना कठिन ही नही
नामुमकिन है कहते थे उनके सुरक्षाकर्मी
सुरक्षाकर्मी जिनके सिर पर था सुरक्षाकवच
माथे पर मुकुट और हाथ में भाला और तलवार''।8

लोकतंत्र शब्द समस्त जटिलताओं और संकीर्णताओं के परे है। आज हमारे लोकतंत्र के सामने चुनौतियों की संख्या काफी अधिक है। इन चुनौतियों के कारण लोकतंत्र के प्रति आम जनता के मन में भय उत्पन्न हुआ है। उमाशंकर जी की कविता 'इनस्पेक्टर मातादीन का सपना' में लोकतंत्र में व्याप्त भय का वातावरण सही ढ़ंग से चित्रित है;

''यह डर अभी और बढ़ेगा
हर आदमी दूसरे आदमी की परछाई मात्र से
भय खाने लगेगा
क्यों कि तब सभी जान रहे होंगे कि
एक वक्त ऐसा आएगा तब
इनमे से ही कोई एक नजदीक आकर
कान में एकदम से फुसफुसाकार कह देगा
डेमॉक्रेसी और फिर यह सवाल पूछकर निरुत्तर कर देगा कि
फिर तुम डरते क्यों हो ? ? ? ?''9

सफल लोकतंत्र के लिए राजनीतिक दलों का होना आवश्यक है। राजनीतिक दल लोकतंत्र के प्राण हैं। लेकिन हमारे लोकतंत्र में अपराधीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। यह सब भारतीय लोकतंत्र के आगे बड़ा खतरा है। चौधरी जी की कविता 'युद्ध' में लोकतांत्रिक व्यवस्था में व्याप्त भय का माहौल चित्रित है ।

''युद्ध के बारे में अब सोचना
इतिहास के बारे में सोचना है
क्यों कि अब युद्ध नही होते
अब तो बस लोग मार दिये जाते है।''10

लोकतंत्र की सफलता बहुत बड़े पैमाने में इस बात पर निर्भर करती है कि देश के लोग शिक्षित है या नहीं। लोकतंत्र की सफलता के लिए सही प्रतिनिधि को चुनना, उसके कार्यो का मूल्यांकन करना, सरकार के कार्यो का मूल्यांकन करना आदि सब अनिवार्य है। भारत में लोग आजकल योग्यता को देखकर नहीं बल्कि धर्म वा भाषा देखकर मतदान करते हैं। यह अशिक्षा के कारण ही होता है। यहाँ से लोकतंत्र का पतन शुरू होता है। गरीब तथा अशिक्षित व्यक्ति अज्ञान के

कारण अपने लिए सही प्रतिनिधि नहीं चुन पाते । अशिक्षित और गरीब जनता अपने हक के बारे में भी सचेत नहीं है। इसलिए सत्ताधारी लोगों द्वारा गरीब और अशिक्षित व्यक्तियों का शोषण होता रहता है। इस तरह की व्यवस्था में आम जनता के हाल का चित्रण चौधरी जी की कविताओं में दिखाई देता है। 'कठिन समय और हम' कविता की पक्तियाँ इस प्रकार है –

''उस रात पार्टी में तुम
शराब पीने के बाद
छत पर सोये थे
लोगो ने इतना ही देखा है
और सुबह से तुम गायब
भला सोचो इस कठिन समय में
मेरा जैसा एक अदना आदमी
इतना बड़ा राज कैसे छुपा पाएगा
और यदि बात चूक से भी खुल गयी
तब क्या मेरी भी हत्या की तारीख
मुकर्रर नही कर दी जाएगी।''11

गरीबी और अशिक्षा के कारण जनता जनप्रतिनिधियों के रूप में जिनको चुनती है वह उनका वास्तविक हितैषी नहीं होता। उसे अच्छे से पता होता है कि वह लोगों की अज्ञानता के कारण ही चुन कर आया है। इसलिए वह उन्हें उस स्थिति में रखना चाहता है। गरीबी और अशिक्षित लोगो केलिए अनेक योजनाएं बनाती है सरकार। यह सिर्फ कागजी योजनाएं बनकर रह जाती है। इन योजनाओं के द्वारा गरीबी और दुरवस्था नही मिटती है। 'किसान की आत्महत्या भी मृत्यु है' कविता में उमाशंकर जी एक गरीबी किसान की हालत का चित्रण करते हैं ;

''परंतु क्या फर्क ही पड़ जाता जो
इस देश के किसान अखबार पढ़ना जानते
और क्या फर्क पड़ जाता जो उसमें
होती उनकी आत्महत्याओं की खबर के बदले
बजट की घोषणाएं
और दिये गये होते उनमे किसानों के लिए
विशेष पेकेज''12

उमाशंकर जी 'शहंशाह सो रहे थे' कविता में सत्ताधारी लोगो के ऊपर व्यंग्य कसते हैं जिसकी पंक्तियाँ हैं –

''शहंशाह की यह नींद
उस पल, उस दिन, इस महीने
इस वर्ष की नही

इस सदी की सबसे सुकून भरी नींद है
इस सुकून के पीछे है एक शोर
और शोर को शांत करने की एक अजूबा
तरकीब
इस सुकून के पीछे है कई कराहे
कब्र और ढ़ेर सारी चुप्पियां।''13

लोकतंत्र व्यवस्था जनता की संप्रभुता है। वहाँ जनता ही सत्ताधारी है। जनता की सहमति या अनुमति से शासन चलता है और उसका एकमात्र लक्ष्य जनता का कल्याण है। लोकतंत्र एक विशिष्ट प्रकार की शासन प्रणाली ही नहीं बल्कि एक विशेष प्रकार के राजनीतिक संगठन, सामाजिक संगठन, आर्थिक व्यवस्था तथा एक नैतिक एवं मानसिक भावना का नाम भी है। लेकिन आजकल लोकतंत्र की परिभाषा एकदम बदल चुकी है। इस व्यवस्था में अनेक विसंगतियाँ फैल रही हैं। ये सब विसंगतियाँ भारतीय लोकतंत्र की चुनौतियाँ है। उमाशंकर चौधरी की कविताओं में इन चुनौतियों का चित्रण देखने को मिलता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. कहते हैं तब शाहंशाह सो रहे थे -पृ.सं-४६
2. वही ३
3. वही
4. kavitakosh.org
5. कहते हैं तब शाहंशाह सो रहे थे -पृ.सं-२६
6. कहते हैं तब शाहंशाह सो रहे थे -पृ.सं-७०
7. कहते हैं तब शाहंशाह सो रहे थे -पृ.सं-६६
8. कहते हैं तब शाहंशाह सो रहे थे -पृ.सं-३६
9. कहते हैं तब शाहंशाह सो रहे थे -पृ.सं-६६
10. kavitakosh.org
11. कहते हैं तब शाहंशाह सो रहे थे -पृ.सं-२३
12. कहते हैं तब शाहंशाह सो रहे थे -पृ.सं-३६
13. कहते हैं तब शाहंशाह सो रहे थे -पृ.सं-४६

रेश्मा एम. एल., शोध छात्रा, कोच्चिन विज्ञान वा प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, केरल
मो. : 7293245190, ई–मेल : reshmavenniyoor1994@gmail.com

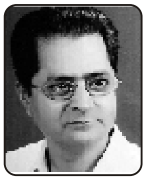

संस्मरण

तुलसी के बाद किसी ने काव्य लिखी ही नहीं : माधवन

पारस कुंज

"नई दिल्ली से चलकर तिनसुखिया तक जाने वाली डाउन ब्रह्मपुत्र-मेल अभी तक सुलतानगंज नहीं आई है!"

यह समाचार लेकर, 'निशांत' चम्पानगर के सदस्य विकास पाण्डेय, अभय आनन्द, सदानन्द और रंगकर्मी मनोज कुमार सिंह मेरे पास आए।

"जानते हैं पारस जी! मंदार के माधवन जी, काफी दिनों बाद आज अपने मंदार-विद्यापीठ लौट रहे हैं!" - विकास और अभय आनन्द ने लगभग एक ही साथ काफी उत्साहित होकर बोला।

तभी पास में ही खड़े सदानन्द और मनोज जी ने कहा- "इस लिए विचार हुआ कि, 'भागलपुर जंक्शन' पर उस महान् संत-साहित्कार का स्वागत किया जाय। यही सोचकर हम आपके पास आये हैं कि, आप भी साथ हो लेते तो कितना अच्छा रहता।"

दक्षिण भारतीय इस संत-साहित्कार का नाम लड़कपन से ही अपनी 'चित्रशाला' में सुनता आया था। परंतु आज उनके साक्षात दर्शन होंगे, यह सोच कर मन काफी आह्लादित होने लगा।

स्टूडियो के बचे काम को, अपने सहयोगी ब्रजकिशोर और कमल को समझा कर, मैं उन लोगों के साथ 'भागलपुर जंक्शन' जा पहुँचा।

तभी लाउडस्पीकर से घोषणा हुई -- ''डाउन ब्रह्मपुत्र-मेल आने की सूचना हो गयी है, एक नंबर प्लेटफार्म पर आयेगी।''

हमलोग एक नंबर पर रेलगाड़ी का इंतजार करने लगे। और मन-ही-मन आनेवाले उस विभूति के बारे में अनेक जिज्ञासाएं भी उठने लगीं। मसलन - वे कैसे दिखते होंगे? स्वभाव कैसा होगा माधवन जी का? ... पहली बार मिलना होगा। कोई भूल-चूक हो गई तो, भला वे क्या सोचेंगे या बोलेंगे। इसी उधेड़बुन में पड़ा था।

तभी सीटी बजाते हुए 'ब्रह्मपुत्र-मेल', जिसे आम बोल-चाल की भाषा में 'तिनसुखिया-मेल' कहा जाता है। एक नंबर प्लेटफार्म पर आकर खड़ी हो गई। रेलवे स्टेशन के पूरब पुरानी वाली ऊपरी पैदल पूल के नीचे हमलोग आ गए।

सामने वाले कंपाटमेंट के दरवाजे पर, सफेद खादी कुर्ता पायजामे में एक साधारण-सा दुबला पतला, चूसे आम की तरह सूखा, सावला मगर दीप्तिमान व्यक्ति खड़ा हो गया और उनके पीछे गोरी-नारी भद्र बंगालन-सी दिखने वाली एक महिला, जो हरे रंग की चौड़ा-पाड़ बाली साड़ी पहने दिखीं।

नीचे उतरने पर हमलोगों ने साभिवादन प्रणाम किया और साथ लाये फूलों की माला उन्हें पहनाई।

एक पहर गुजर चुका था। उन्हें करीब पचास किलोमीटर दक्षिण बौंसी-बांका के 'मंदार विद्यापीठ' भी जाना था।

हम उनके लगेज वगैरह साथ लेकर, बाहर के सरकारी बस-स्टैंड में आ गए। मंदार केलिए एक जीप की व्यवस्था की गई।

तभी माधवन जी का गला कुछ सूखने से उन्हें प्यास की तलब होने लगी। मैंने पास के ही 'शंकर-शम्भू' की दूकान से दो ग्लास लस्सी लाकर उन्हें दिया। जिसे पीते समय उन्होंने हम लोगों का परिचय भी प्राप्त कर लिया।

लंबी दूरी की थकी-मांदी रेल-यात्रा से मुरझाए चेहरे और बदन को, इस लस्सी से काफी राहत-सी महसूस होने लगी।

जीप उन्हें ले जाने को तैयार हो चुकी थी। वे अब हमसे विदा होने को थे, और काफी खुशनुमा माहौल में 'मंदार विद्यापीठ' आने को कहते गए।

कुछ वर्ष बाद, शिवरात्रि का दिन पड़ा। यानि कैलास पर बीराजने वाले औघड़दानी भगवान शंकर की मैया पार्वती से विवाह का दिन। आज पवित्र दिन मान कर मेरी, मंदार विद्यापीठ जाने की इच्छा हो गई। संयोग अच्छा ही था कि, मेरे पत्रकार मित्र अरविंद कुमार वर्मा भी साथ हो गए।

'भागलपुर जंक्शन' से बौंसी तक जाने वाली 'मंदार-हिल' रेलगाड़ी पर सवार होकर हमलोग 'मंदार-हिल-हॉल्ट' पर उतरे।

वहाँ से उत्तर दिशा की तरफ 'मंदार-पर्वत' एवं 'पापहरणी' का दर्शन करते पैदल ही गाना गाते हुए 'मंदार विद्यापीठ' जा पहुँचे।

अब तक देखा तो नहीं परंतु सुना जरूर था कि, कविगुरु रविन्द्रनाथ ठाकुर का 'शांति निकेतन', ऐसा है वैसा है.... लगभग वैसा ही दृश्य, बाग-बगीचा से सजा-भरा 'मंदार विद्यापीठ' पहली बार देखना बड़ा ही सुखद लग रहा था।

आहाते में प्रवेश कर वहाँ उपस्थित लोगों से पूछने पर पता लगा कि वहाँ से उत्तर-पश्चिम की तरफ एक 'खपड़ैल घर' में वे रहते हैं। पास जाने पर मेरी नजर, दक्षिण से उत्तर तक फैली पूरब रूख के उस साफ-सुथरे घर पर पड़ी।

दो-तीन सीढ़ी चढ़ते ही चौड़ा, मगर लंबा बरामदा। उसके दोनों किनारे पर बाहर पूरब तक एक लंबा-सा पीठ टिकाकर बैठने के लिए सीमेंटेड स्थान। फिर अंदर जाने पर उसी तरह का एक और बरामदा, दाहिने तरफ के कमरे में पत्र-पत्रिकाओं के छापने हेतु प्रिंटिंग मशीन आदि। भीतर घुसने पर सामने एक बैठका, उसकी दाहिनी तरफ कमरा जिसमें लिखने-पढ़ने के लिए लकड़ी की एक पुरानी टेबुल।

तभी अंदर से आधी बांह वाला खादी कुर्ता और पायजामे में वह दिव्य पुरुष माधवन जी, यानि श्री आनन्द शंकर माधवन आते हुए दिखे।

मुझ पर नजर पड़ते ही अपार खुशी से चौकते हुए बोल पड़े- ''अरे, आओ पीयूष! आओ !! माधवन की इस कुटिया में तुम्हारा हृदय से स्वागत है!''

हम दोनों आगे बढ़ कर उनके पॉव को छूने के लिए झुके ही थे कि, अपनी दोनों लंबी भुजाओं से पकड़ कर उठा लिया और हृदय से लगाते हुए अनेकों वार मेरे मस्तक को चुमते हुए बोल पड़े -

''अरे, तुम्हारे पिता श्री हरि कुंज तो साधु हैं! बिल्कुल साधु!! ... वैसा पुरूष-रत्न मैंने आज तक कोई दूसरा नहीं देखा ! साहित्य, कला, संस्कृति और आध्यात्म की कौन-सी विधा है?... जिससे वे अछूते हैं?''

आगे पुनः काफी उल्लसित होकर बोले - ''आज उनकी संतान के रूप में तुम्हें पाकर मुझे काफी खुशी हो रही है!'' कहते-कहते मेरे और अरविंद का हाथ पकड़े, अपने उसी पढ़ने-लिखने वाले टेबुल के पास लगी कुर्सियों पर बिठाया।

टेबुल पर कुछ किताब, पत्रिका, अखबार, आधे-अधूरे लिखे कागजात। एक टेबुल-लैम्प, कलम आदि पड़े थे। पीछे पूरब की तरफ दीवार से सटा, एक रैकनुमा अलमीरा, जिसमें बहुत सारी किताबें भरी पड़ी थीं।

उसी समय दो लड़के, एक घुंघराला बाल वाला तो दूसरा उससे थोड़ा छोटे कद का भरा-पूरा देह वाला गोरा-नारा वहाँ आया।

माधवन जी ने उनसे हमारा परिचय कराते हुए एक का नाम - आदित्यनाथ और दूसरे का सुरेश बताया। तीसरा जो बाद में आया वह विद्यापीठ की मशीन चलाया करता था। वहाँ से छपने वाली किताब आदि वही छापा करता था।

अल्पाहार आया जिसे हमसब ने मिल कर खाया। बात-चीत का दौर चलता रहा, इसी बीच उन्होंने मुझसे पूछा- ''क्या करते हो? ... कुछ लिखते-पढ़ते हो कि नहीं?...''

हलांकि तबतक मैं दो कहानियाँ लिख चुका था, जिसमें एक का पाठ, भागलपुर की 'समीक्षा गोष्ठी' में, स्थानीय डाक-तार कालोनी स्थिति, समालोचक श्री केदारनाथ शर्मा की छत पर कर चुका था।

फिर भी सकुचाते हुए मैंने कहा- ''नहीं ! अभी कुछ नहीं!''

पुनः उन्होंने कहा- ''काव्य लिखो! काव्य !! ... काव्य में रस है ... वैसे तो तुलसी के बाद किसी ने काव्य लिखा ही नहीं!''

उनकी इस बात पर मैं जैसे दुविधा में पड़ गया, कि देश भर में इतने लेखक और कवि भरे पड़े हैं, जिन्हें हम पढ़ते-सुनते आए हैं .... वो क्या बेकार ही लिख रहे हैं? क्या उनके काव्य में रस नहीं है? फिर उन्होंने ऐसी बात क्यों कही?

मेरे चेहरे के भाव को संभवतः वे समझ गए, और पुनः कहा - ''अरे काव्य तो वह है जो कण्ठ में सवार हो जाए ! ...''

अब मैं कुछ सहज हो गया। तभी जैसे मुझे याद आया, और उनसे कहा - ''माधवन जी! ... मेरा नाम पारस है, पारस कुंज ! ... पीयूष नहीं!''

इस पर उन्होंने जैसे, जोर देते हुए कहा - ''तो इसमें क्या हो गया? ... मेरी अंतर्रात्मा से तुम्हारा यही नाम निकला तो भला मैं क्या कर सकता हूँ ? ... मेरे लिए आज से तुम्हारा यही नाम है!''

पारस कुंज, संपादक/अध्यक्ष : 'शब्दयात्रा', सीता निकेत, जय प्रभा पथ, भागलपुर-812 002
मो. : 6201334347, 9572963930

✧ ✧ ✧

यात्रा संस्मरण

शैलेन्द्र श्रीवास्तव

उत्खनन देखने के बाद हम दोनों टहलते हुये पास के गाँव पहुंचे। मिट्टी व खपरैल के घर थे। मुस्लिम आबादी थी। वहीं एक स्तूप के ऊपर दरगाह दिखी जिसे एक गाँववासी ने ''मीर कासिम की दरगाह ''बताया। लेकिन वास्तव में वह बौद्ध स्तूप था जिसके ऊपर किसी ने फकीर शेख काजिम सुन्तारी (1434-95) की मजार बनाकर इसे मुस्लिम धर्म स्थलों से जोड़ दिया।

इंडियन काउंसिल आफ हिस्टारिकल रिसर्च से दो हजार रुपये की सहायता की स्वीकृति मिल गई थी। इसमें लिच्छवियों से संबंधित उत्खनन स्थलों के अवलोकन, नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता में अध्ययन तथा शोध ग्रंथ की टाइपिंग आदि खर्च शामिल था।

मैंने डॉ. पाण्डेय जी से ''टू हूम इट मे कंसर्न'' का पत्र लिया क्योंकि नेशनल लाइब्रेरी में बिना पत्र के किताबें पढ़ने की अनुमति नहीं देता है। सात दिन के लिये हास्टल उपलब्ध कराने के भी डॉ. पाण्डेय जी ने वहाँ कार्य रत एक मित्र अधिकारी को भी पत्र लिखकर मुझे दे दिया था।

मैं आफिस से 15 दिन की छुटी लेकर 15 जनवरी, 79 को ट्रेन से सीधे पटना पहुँचा था। मैं पटना विश्व विद्यालय के इतिहास विभाग के अध्यक्ष डॉ. योगेन्द्र मिश्र से मिलना चाह रहा था क्योंकि मैंने उनकी पुस्तक ''एन अर्ली हिस्टरी आफ वैशाली'' पढ़ी थी। इस पुस्तक में वैदिक काल से बुद्ध से पूर्व का इतिहास वर्णित है। इस पुस्तक से मैंने कुछ सवाल उठाये थे जिसपर उनकी राय जानना चाह रहा था। पर अचानक उनसे मिलना संभव नहीं हो पाया था।

अत: समय न होने के कारण मैं महेन्द्रू घाट आ गया। यहाँ से पानी के जहाज से गंगा पार किया। फिर प्राइवेट जीप से हाजीपुर और वहाँ से बस द्वारा लालगंज आ गया।

लालगंज में ''श्री शारदा सदन पुस्तकालय'' है जहाँ लिच्छवियों से सबंधित

छोटी मोटी पुस्तकें थीं। उसमें से जरूरी सामग्री नोटबुक पर उतार लिया था।

पुन: बस पकड़कर मैं बसाढ (वैशाली) आ गया। उस समय शाम के आठ बज रहे थे।

गेस्ट हाऊस के सामने ही उतरा था। गेस्ट हाऊस के मैंनेजर ने बताया कि गेस्ट हाऊस जापानी पर्यटकों से भरा है। मैंने गाइड का पत्र देते हुये कहा कि मैं लिच्छवियों पर शोध कर रहा हूँ, यहाँ का उत्खनन तथा आसपास के क्षेत्रों का अध्ययन करना जरूरी है। वैसे मैं भी दिल्ली से आया हूँ।

मेरे बहुत कहने पर मैनेजर ने हाल में एक बेड उपलब्ध करा दिया।

मेरे बगल के बेड पर जापानी महिला थी जो बौद्ध धर्म से बहुत प्रभावित थी। जब मैंने बताया कि मैं भी बुद्ध के जीवन से संबंधित स्थलों का अध्ययन करने ही आया हूँ क्योंकि उन स्थलों से लिच्छवियों का संबंध रहा था।

मेरी बात सुनकर उसने दो दिन तक मेरे साथ ही वैशाली के भग्नावशेषों का भ्रमण किया था। हर स्थल से जुड़ी ऐतिहासिक जानकारी वह बड़े ध्यान से सुनती थी।

अगले दिन सबसे पहले हम दोनों उस विशाल उत्खनन को देखने गये जिसे स्थानीय लोग ''राजा विशाल का गढ़ा'' कहते थे जबकि यह स्थल वज्जि संघ जिसमें लिच्छवि भी शामिल रहे हैं, का संथागार (संस्थागार था जहाँ संघ के सदस्य राज) लोग शासन संबंधी मुद्दों पर विचार विमर्श किया करते थे।

उत्खनन देखने के बाद हम दोनों टहलते हुये पास के गाँव पहुंचे। मिट्टी व खपरैल के घर थे। मुस्लिम आबादी थी। वहीं एक स्तूप के ऊपर दरगाह दिखी जिसे एक गाँववासी ने ''मीर कासिम की दरगाह ''बताया। लेकिन वास्तव में वह बौद्ध स्तूप था जिसके ऊपर किसी ने फकीर शेख काजिम सुन्तारी (1434-95) की मजार बनाकर इसे मुस्लिम धर्म स्थलों से जोड़ दिया।

वहाँ से चलकर हम बावन पोखर पहुँचे। इस पोखर के किनारे बावन देवता का मंदिर है। जैन धर्म की मूर्तियाँ भी रखी थी। मंदिर के सामने ही महावीर स्वामी की संगमरमर की चरण पादुका किसी श्रद्धालु ने बनवा दी थी। पहले यहाँ सामान्य पत्थर की चरण पादुका थी।

पोखर की दूसरी तरफ कमल सरोवर था जिसमें आधा फुट पानी था। हम पानी में ही आगे बढ़ते हुये गंगा सागर व खरोना पोखर आ गये जिसे बुद्ध काल में अभिषेक पुष्करणी कहते थे जिसकी सुरक्षा के लिये जाल से ढँककर रखते थे।

पुष्करणी का उपयोग नव निर्वाचित सदस्यों को स्नान कराकर अभिषेक करने में किया जाता था। तब उन्हे राजा की उपाधि दी जाती थी। पुष्करणी का उपयोग बाहरी व्यक्ति नहीं कर सकता था। एक जातक के अनुसार एक बार पड़ोसी राज्य का राजकुमार ने चुपके से स्नान कर लिया था ।

लिच्छवियों को सूचना मिली तो उन्होंने राज कुमार का पीछा कर उसे मार डाला था।

सरोवर के किनारे एक प्राचीन शिव मंदिर था। कुछ पर्यटक स्नान कर मंदिर में पुष्प चढ़ा रहे थे।

पुष्करणी के बगल एक छोटा सा संग्रहालय था जिसमें छुट फुट पुरातत्व महत्व के टेराकोटा रखे थे। पर्यवेक्षक ने बताया कि उत्खनन में प्राप्त कलात्मक वस्तुएँ खंडित मूर्तियाँ पटना म्यूजियम में रखी गई हैं। पोखर के बगल में जापान ने स्वर्ण कलश निर्मित स्तूप अभी हाल में बनवाया है।

चीनी यात्री वेनत्सांग ने पुष्प करणी से कुछ दूर (5-6 ली) उस स्तूप का जिक्र किया है जिसे वैशाली के लिच्छवियों ने बुद्ध के अस्थिअवशेष पर बनवाया था। खुदाई में मिला घड़ानुमा पात्र जिसमें अस्थि अवशेष का भाग रखा था, पटना म्यूजियम में बेहद कड़ी सुरक्षा में रखा है। बौद्ध संसार में यह पात्र अनमोल है। स्तूप की जगह सूखा कुँआ दिख रहा था।

मैंने उस कुएँ की ओर इशारा कर बताया कि यह वही स्थान है जहाँ बुद्ध के अस्थि अवशेष पर स्थापित पवित्र स्तूप था।

मेरी बात सुनकर वह कुएँ की ईंट पर बैठकर ध्यान मुद्रा में आँख बंद कर दस मिनट बैठी रही थी।

शाम गहराने लगी थी तो हम गेस्ट हाऊस लौट आये।

फ्रेश होकर सामने एक छप्पर नुमा ढाबे में एक रुपये में पेट भर दाल भात खाया, रोटी बनती ही नहीं थी।

अगले दिन मैं अशोक द्वारा स्थापित सिंह स्तंभ देखने निकल पड़ा। यह स्तंभ उसी जगह स्थापित किया गया था जहाँ से महात्मा बुद्ध ने अपना प्रिय भिक्षा पात्र लिच्छवियों को स्नेह प्रतीक के रूप में भेंट किया था।

सम्राट अशोक उसी जगह पर स्तंभ स्थापित कराकर वहीं से यात्रा शुरू कर नेपाल गये थे। गाँधी जी ने भी इसी सिंह स्तंभ से शांति के लिए नेपाल यात्रा की थी। यह स्तंभ अशोक द्वारा स्थापित पहला स्तंभ माना जाता है क्योंकि लाट के ऊपर चौकोर आधार शिला पर एक मुखी सिंह स्थापित है जबकि अन्य इलाके में मिले अशोक स्तंभ गोल आधार शिला पर तीन सिंह मुख हैं।

बनिया गाँव (वाणिज्य ग्राम) है जहाँ महावीर स्वामी वर्षावास किया करते थे। दो घंटे पद यात्रा कर पहुँचा था।

वेनत्सांग ने अपनी यात्रा संस्मरण में वैशाली के चारों दिशा में चौमुखी महादेव का उल्लेख किया है। यह चारों स्थल बुद्ध के प्रवचन स्थल माने जाते हैं जहाँ वे लिच्छवियों को प्रवचन दिया करते होंगे ।

एक चौमुखी महादेव इसी गाँव में था। यह काले चित्तीदार पत्थर का विशाल चौमुखी महादेव है जिसका बड़ा हिस्सा जमीन के भीतर था। इसपर पाली भाषा में लेख खुदा था जिससे इसे गुप्तकालीन स्तंभ होने का कहा जाता है। ऐसा ही एक चौमुखी महादेव वैशाली के उत्तर कम्मन छपरा गाँव में मिला है। अन्य दो चौमुखी महादेव की खोज की जा रही थी।

चौमुखी महादेव देखने के बाद अशोक स्तंभ जाने का रास्ता पूछा तो ग्रामीण ने कहा कि अशोक लाट तो मैं नहीं जानता हूँ पर आगे चलकर कोल्हुआ गाँव मिलेगा वहीं पर एक 'भीम की लाठी'' है उसीके बगल ''भीम का पल्ला'' है। उसी को देखने बाहर से लोग आते हैं।

मैंने अनुमान लगाया कि ग्रामीण जिसे भीम की लाठी कह रहा है वही अशोक स्तंभ है।

मैं कोल्हुआ गाँव पहुँच कर अशोक स्तंभ देखा। वहाँ पहले से विदेशी पर्यटक मौजूद थे।

अशोक स्तंभ के एक ओर पोखरी थी तथा दूसरी ओर बुद्ध के प्रिय शिष्य आनंद का

काफी बड़ा स्तूप था।

बौद्ध साहित्य में यह पोखरी ''मर्कट पोखर'' के नाम से प्रसिद्ध है।

कथा है, एक दिन बुद्ध एक पोखर के किनारे उदासमना बैठे थे। उनकी दशा देख एक बंदर पास के कुंऐ में लगे मधु के छत्ते से शहद निकाल कर एक पात्र में ले आया और बुद्ध को अर्पित किया था।

उसी कारण बौद्ध संसार में यह पोखर ''मर्कट पोखर'' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस घटना का दृश्य बुद्ध मूर्ति की आधार शिला मे देखने को मिलता है।

पास के आनंद स्तूप के पास ही वैशाली की आम्रपाली का आम्रवन था जिसे उसने बुद्ध को बौद्ध विहार के लिए दान में दे दिया था।

वहाँ से मैं कम्मन छपरा गाँव पहुँचा। चौमुखी महादेव को देखा जिसका तीन भाग भूस्तर से नीचे था। बताया गया मुस्लिम हमलावरों से बचाने के लिये इसे मिट्टी से ढँककर टीला बना दिया गया था इस कारण यह सुरक्षित रहा है।

काफी देर तक घूमने के कारण मैं थक गया था इस कारण बस से गेस्ट हाऊस लौट आया था।

लिच्छवियों के इतिहास में एक प्रसंग आता है। एक बार वैशाली में महामारी फैली थी, रोज वैशालीवासी महामारी से मृत्यु के ग्रास बन रहे थे। वैशाली वासियों ने महामारी से मुक्ति पाने के लिये गौतम बुद्ध को वैशाली आमंत्रित करने का प्रस्ताव पारित किया।

उस समय गौतम बुद्ध अपने शिष्यों के साथ राजगृह के गिद्धकूट पर्वत पर विहार कर रहे थे।

लिच्छवि महालि राजगृह में मुलाकात कर उन्हे वैशाली आने का निमंत्रण दिया जिसे स्वीकार कर गौतम बुद्ध ने 500 भिक्खुओं के साथ वैशाली के लिए प्रस्थान किया। पाटलि ग्राम पहुँच कर गौतम बुद्ध ने गंगा पार किया। नाव से उतर कर गौतम बुद्ध ने जैसे ही वज्जि भूमि पर चरण रखा, जोर की वर्षा होने लगी।

गौतम बुद्ध के वैशाली पहुँचने पर वैशाली महामारी से मुक्त हो गई। वैशाली के संस्थागार में बुद्ध ने ''रतनसुत्त'' का मुक्त कंठ से उच्चारण किया। यह गौतम बुद्ध का वैशाली में प्रथम आगमन था।

इसी तरह के कई प्रसंग वैशाली राजगृह से गौतम बुद्ध के जुड़े हुये हैं। यही नहीं गौतम बुद्ध की अंतिम यात्रा भी राजगृह से शुरू होकर वैशाली होते हुये मल्लो की राजधानी कुशीनगर पहुँची थी जहाँ सदीनारा नदी के किनारे उन्होंने अंतिम सांस ली थी।

इस कारण बुद्ध के चरण चिन्ह खोजने के लिए मैं कोलकाता से राजगृह आ गया था।

प्राचीन काल में राजगृह ही मगध की राजधानी रही है। अजात् शत्रु के समय लिच्छवियों द्वारा गंगा पार कर पाटलिग्राम पर आक्रमण करने के कारण अजातशत्रु पाटलिपुत्र पर डेरा जमाये रहता था। बाद में पाटलिपुत्र मगध की राजधानी बनी थी।

राजगृह राजधानी को बनाने का कारण उसका सुरक्षित क्षेत्र होना था। यह पहाड़ियों का क्षेत्र है। सुरक्षा की दृष्टि से इसे पत्थर निर्मित चार दीवारी से दुर्ग को घेर दिया गया था।

मैं जब राजगृह के प्रवेश कर रहा था तो शिलाखण्ड निर्मित चार दीवारी दिखाई दे रही थी।

राजगृह में एक जगह गर्म पानी का कुण्ड देखा जहाँ कुछ लोग गर्म जल से नहा रहे थे। मैं भी लम्बी यात्रा करके आया था इसलिये वहीं स्नान आदि से निवृत्त होकर एक मारवाड़ी भोजनालय में भोजन किया। फिर गृद्धकूट पर्वत पहुँचा जिसके ऊपर जापान के सहयोग से सफेद पत्थरों से निर्मित स्तूप है जिसके शिखर पर भारी भरकम स्वर्ण कलश था।

रोप वे से ही शिखर स्थित स्तूप तक जाया जा सकता है। रोप वे का चार्ज दस रुपये था लेकिन मैंने बुद्ध प्रिय लिच्छवि पर शोध करने की बात कही तो उसने मुझसे कोई चार्ज नहीं लिया।

शिखर पर पहुँच कर मैंने विश्व शांति स्तूप का अवलोकन करते हुये परिक्रमा की। यहीं से वह पर्वत शिखर भी दिखाई पड़ रहा था जहाँ जनश्रुति के अनुसार महाभारत युद्ध के समय भीम और जरासंध में मल्लयुद्ध हुआ था। जिसमें जरासंध मारा गया था। गिद्धकूट पर्वत के बगल के पर्वत शिखर पर ही राजवैद्य जीवक का निवास होता था। कुछ देर के बाद मैं रोप वे से नीचे आ गया था।

राजगीर के आसपास महावीर स्वामी का जन्म स्थान माना जाने वाला कुण्डलपुर जैन मंदिर है। पर मैंने शोध में पाया था कि महावीर स्वामी का जन्म कुण्डग्राम वैशाली क्षेत्र में होना चाहिए क्योंकि उनका ग्यातिक कुल वज्जि संघ का हिस्सा था। अत: वैशाली के निकट क्षत्रिय कुण्ड ही महावीर स्वामी का जन्म स्थान है। कई दिगम्बर जैन विद्वान अब ऐसा ही मानने लगे हैं।

इसी तरह पावापुरी जल मंदिर महावीर स्वामी का निर्वाण स्थल माना जाता है। यह मंदिर मकराना संगमरमर से बना है। मंदिर एक तालाब के जल के बीच में स्थित है।

यह पावापुरी कैमूर की पहाड़ी पर बसा है। इसपर भी मतभेद है। एक प्रसंग मिलता है, महावीर स्वामी के देहावासान की सूचना एक भिक्खु चुंदकर्मापुत्र ने आनंद को दी जिसे गौतम बुद्ध तक पहुँचाया गया था। इससे पता चलता है कि स्वामी महावीर का निर्वाण बुद्ध के निर्वाण के पूर्व हुआ था तथा यह पावापुरी बुद्ध की उपस्थित से ज्यादा दूर नहीं रहा होगा।

राहुल सांस्कृतायन ने ''पपहुर'' की पहचान पावा पुरी से की है। पर अधिकांश विद्वान ऐसा नहीं मानते हैं।

इसके बाद मैं विश्व प्रसिद्ध नालंदा विश्व विद्यालय का खण्डहर देखने पहुँच गया। यह खण्डहर कनिंघम द्वारा उत्खनन कराये जाने से दुनिया के सामने आया था।

नालंदा विश्व विद्यालय की स्थापना 450 ईसवीं में गुप्त वंश के सम्राट कुमार गुप्त के द्वारा बौद्ध भिक्खुओं के प्रयासो के फलस्वरूप हुआ था। यह बौद्ध शिक्षा के लिये विश्व विख्यात था। वेनत्सांग की यात्रा संस्मरण के अनुसार यहाँ उसने शिक्षा भी लीया और अध्यापन भी किया था। उसके अनुसार विद्यालय में 8560 छात्र तथा 1000 से ऊपर उपाध्याय मौखिक पढ़ाने के कार्य में लगे थे।

वेनत्सांग यहाँ सात साल रहा था। यहाँ संस्कृत, पाली में शिक्षा दी जाती थी।

इस विद्यालय को बख्तियार खिलजी ने नष्ट कराया था उसने इसके विशाल पुस्तकालय में भी आग लगवा दी थी।

विश्व विद्यालय के अवशेष विश्व बंधुत्व का संदेश देने वाले विश्व विद्यालय की सूची में दर्ज है।

नालंदा से बस से मैं बोधि मंदिर (बोधि विहार) पहुँचा।

विश्वास किया जाता है कि इसी स्थान पर वह पीपल वृक्ष था जिसके नीचे खीर खाकर सिद्धार्थ को बोधि प्राप्त हुआ था।

बौद्ध कथानुसार फल्गु नदी के तट पर सिद्धार्थ गौतम एक पीपल वृक्ष के नीचे शांत बैठे मनन कर रहे थे कि तभी सुजाता नाम की ग्रामीण कन्या वृक्ष देवता को खीर चढाने आई और वृक्ष के नीचे शांत मुद्रा में बैठे तपस्वी को देखकर सोचने लगी कि आज वृक्ष देवता साकार प्रगट हुये हैं, यह सोच कर उसने खीर का पात्र तपस्वी को अर्पित कर दिया। गौतम बुद्ध ने उसे समझाने की कोशिश की थी कि वह कोई देवता नहीं हैं, आम इंसान हैं पर वह कन्या खीर खाने पर जोर देती रही तो उसकी बात मान कर सिद्धार्थ खीर पात्र को लेकर निरंजना नदी तट पर आये। खीर पात्र को रख दिया।

सरिता जल में सिद्धार्थ ने स्नान किया। पूर्व की ओर मुख करके बैठ गये। सामने खीर पात्र रख लिया।

सिद्धार्थ ने खीर को उनचास कौर में खाया था। यह उनचास दिनों के लिए पर्याप्त था। उनचास दिनों तक उन्होंने किसी प्रकार का आहार ग्रहण नहीं किया था। खीर खाने से सिद्धार्थ को बोधि (ग्यान) प्राप्त हुआ था और वे सिद्धार्थ गौतम से गौतम बुद्ध कहलाये।

वास्तव में मैं बोध गया आया था ''हिस्ट्री आफ मिथिला'' के जाने माने इतिहासकार प्रोफेसर उपेंद्र ठाकुर से बोध गया स्थित मगध विश्व विद्यालय में मिलने के लिये।

मैंने शोध में वज्जिसंघ में विदेह कुल को भी शामिल होना बताया है, इसपर उनकी राय जानना चाह रहा था। पर मगध वि.वि. जाने पर पता कि वह छुट्टी पर पटना गये हैं। जिस सज्जन ने यह सूचना दी थी वह स्वयं प्राचीन इतिहास के प्रोफेसर थे। वह लिच्छवियों पर शोध करने की बात से मुझसे इतने प्रभावित हुये कि उनके ही ड्राइंग रूम में बैठकर चाय नाश्ता करते हुये इस विषय पर लम्बी वार्ता की।

वार्ता करते दो तीन घंटा कब बीत गया, पता ही नहीं चला था।

शैलेन्द्र श्रीवास्तव, सेक्टर –6, 6 ।ध्53, वृन्दावन कॉलोनी, लखनऊ–226029
मो. : 7021249526

✧ ✧ ✧

आलेख

निराला की प्रगतिशीलता

डॉ. रत्नेश्वर सिंह

निराला के छन्द छायावादी छन्दों से भिन्न है, लय भिन्न है। निराला की विशेषता प्रसाद से और पन्त से भिन्न दर्शन को लेकर है पन्त एक तरफ गांधीवाद और मार्क्सवाद में समन्वय कर लेते है उसके बाद अरविन्दवाद में भी समन्वय करते हुए दिखाई देते है लेकिन निराला ने कहीं समन्वय नहीं किया। इस प्रकार प्रायः सभी यह मानते हैं कि निराला की कविताओं में विविधता बहुत है जैसे निराला की कविताओं में अद्वैतवाद है तो साम्यवाद की खूब है अगर तुलनात्मक रूप से देखा जाय तो साम्यवाद ज्यादा ही है।

निराला के काव्य में इतनी विविधता है कि हमे किसी निष्कर्ष पर पहुँचने में दुर्गम पगडंडियों से होकर गुजरना पड़ता है। यह प्रश्न अत्यन्त विचारणीय है कि हम किस निराला को मानें कभी वे दार्शनिक कवि के रूप में सामने आते है। रामविलास शर्मा के शब्दों में कुछ दर्शनशास्त्र उन्होने किताबों में पढ़ा था, कुछ राम कृष्ण मिशन के साथ साधुओं के सम्पर्क में रह कर देखा था, बहुत कुछ अपने जीवन के विषाक्त अनुभवों में स्वयं देखा था। अनुभव में जो देखा था वह दर्शन से मेल नहीं खाता था इसलिए उनके काव्य में सुव्यवस्थित दार्शनिक चिन्तन की जगह परस्पर विरोधी विचार मिलेंगे। इसलिए इस सन्दर्भ में मैं यह कहना चाहूँगा कि एक तरफ उनकी प्रगतिशील पृष्टिभूमि है तथा दूसरी ओर छायावादी संस्कार भी है इसका अन्तर्विरोध उनके काव्य में देखने को मिलता है यही कारण है कि एक 'राम की शक्ति पूजा' जैसे उदात्त काव्य तथा 'कुकुरमुत्ता' जैसी व्यंग्य काव्य कृतियों में बहुत अन्तर दिखाई देता है। एक तरफ जूही की कली, जिसे उन्हानें एक तरह से कहा जा सकता है कि अपने साहित्यिक जीवन के अम्युदय काल में लिखी थी तब से अन्तिम प्रणय बेला तक यह क्रम चलता रहा।

निराला के लिए वसन्त सबसे प्रिय ऋतु है वसन्त आनन्द और उल्लास का ऋतु है

सभी रोमान्टिक कवियों ने एक दूसरे से बढ़-चढ़ कर वसन्त का वर्णन किया है। राम विलास शर्मा के अनुसार इस वर्णन की एक विशेषता यह है कि वसन्त की शोभा को और भी भव्य बना देने के लिए वे पौराणिक गाथाओं से मदन, रति, वन देवियों आदि को बिहार भूमि में अवतरित करते है कुमार संभव का तीसरा सर्ग इस काल का अनूठा उदाहरण है (राग विराग: भूमि का रामविलास शर्मा)

लेकिन निराला के लिए यह धरती ही सौन्दर्य का पर्याय है, प्रतीक है कि उसे और सुन्दर और भव्य बनाने के लिए वन देवियों की आवश्यकता नहीं है। नारी के सौन्दर्य के बिना वसन्त का उल्लास अधूरा है यही कारण है कि आलोचक यह कहते है कि ये कैसे छायावादी कवि है जो अपने को रहस्यवादी कहते है और नारी सौन्दर्य के गीत भी गाते है। जो भी बात हो लेकिन निराला की काव्य चेतना में कुछ ऐसी बात अवश्य है जिस पर हमें नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता है हम किस निराला को जानते है पहचानते है? सरोज स्मृति लिखते वक्त सरोज को याद करते हुए जार-जार रोने वाले निराला को, या जूही की कली मे जो प्रणय और प्रकृति के दृश्य की चर्चा की है उस निराला को, राम की शक्ति पूजा में राम की असहाय, निरूपाय दिखाने वाले निराला को या प्रगतिशीलता से पूरी तरह से लैस होकर तोड़ती पत्थर, भिक्षुक और कुकुरमुत्ता जैसी कविता के अत्यन्त यथार्थवादी निराला को। निराला की प्रगतिशील चेतना को हम चाहे जिस रूप में ले लेकिन कुछ बातों की ओर मैं ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि निराला को छायावादी कवियों में महत्व पूर्ण बना देने की बात उनकी प्रगतिशील चेतना को जाता है।

निराला की कविता में अद्वैत का विस्तार है भिक्षुक कविता 1923 की है और फिर लगातार उन्हें यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि निराला में प्रगतिशली चेतना आरम्भ से ही है। उन्होंने एक समय में कई प्रकार की कविताएं लिखी 'बेता और नये पत्ते' में जो कविताएँ आई उनकी वह अधिक और काव्यवद्ध रचनाएँ है जो चेतना निराला में विद्यमान थी वह चेतना बाद में जाकर अधिक सघन होती है, धनीभूत होती है निराला का जो प्रिय छन्द है वह इस प्रकार है :-

वर्ण गन्धधर मधु मरंदधर
तरू उर की उरमणिमा तरण तर
खुली रूप कलियों में पल भर
स्तर-स्तर सुपरिसर टूटे सकल नन्द।
कली के दिशा ज्ञान हो बहिर्गन्ध।

निराला के छन्द छायावादी छन्दों से भिन्न है, लय भिन्न है। निराला की विशेषता प्रसाद से और पन्त से भिन्न दर्शन को लेकर है पन्त एक तरफ गांधीवाद और मार्क्सवाद में समन्वय कर लेते है उसके बाद अरविन्दवाद में भी समन्वय करते हुए दिखाई देते है लेकिन निराला ने कहीं समन्वय

नहीं किया। इस प्रकार प्रायः सभी यह मानते हैं कि निराला की कविताओं में विविधता बहुत है जैसे निराला की कविताओं में अद्वैतवाद है तो साम्यवाद भी खूब है अगर तुलनात्मक रूप से देखा जाय तो साम्यवाद ज्यादा ही है। उनमें राग का प्रबलवेग है लेकिन विराग का भाव भी है। शान्त और साक्षी भाव भी है। इससे हमें यह मान लेना चाहिए कि उस युग के समाज में यह द्वैत विद्यमान था। यह निराला की विशेषता नहीं है यह उस समाज की विशेषता है जिसमें यह द्वैत विद्यमान था। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। निराला की मान्यता थी कि कविता जीवन पर और समाज पर लिखी जाती है। अतीत पर लिखी जाती जरूर है मगर उसे सजीव बनाने के लिए लिखी जाती है। यह हमें सोचना होगा कि निराला का समाज कैसा था? निराला पराधीन समाज के सदस्य थे। निराला का समाज और निराला का ही समाज नहीं वल्कि आज का समाज भी गरीब समाज है। अब सोचना होगा कि एक पराधीन और गरीब समाज किस तरह की बुद्धि को रचनाकार के लिए सौपेगा। यही कारण है कि निराला पन्त और प्रसाद से भिन्न दिखाई देते है तथा उनकी कविताओं में हमें प्रगतिशील चेतना तुलनात्मक रूप से अधिक देखने को मिलती है और 'वह तोड़ती पत्थर' देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर तो कभी 'भिक्षुक' वह आता पछताता पथ पर। चल रहा लकुटिया टेक/पीठ पेट मिलकर दोनो है एक/जैसी कविताएँ लिखते है। और वह तत्कालीन समाज की ही देन है और वह आज के समाज पर भी सही और सटीक बैठता है कि उन्होंने 'कुकुरमुत्ता' जैसी कविता भी लिखीः-

अबे सुन बे, गुलाब/भूल मत जो पाई खुशबू, रंगोआब/

खून चूसा स्वाद का/तूले अशिष्ट/डाल पर इतराता है कैप्टलिस्ट।

इस प्रकार हम यह निर्विवाद रूप से कह सकते है कि निराला की पृष्ठिभूमि प्रगतिशील है यद्यपि उसमें छायावाद के संस्कार भी दिखाई पड़ते है। लेकिन वे समय और समाज के धड़कन को स्पन्दन और कम्पन को, उसके तमाम आरोह-अवरोह को महसूस करने वाले कवि है।

सन्दर्भः

1. राग विराग सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला भूमिका रामविलास शर्मा
2. नई कविता निराला, अज्ञेय और मुक्तिवोध सम्पादक विद्या सिन्हा, प्रो. नित्यानन्द तिवारी

रत्नेश्वर सिंह, रिटायर्ड एसोसिएट प्रोफेसर, भूपेन्द्र नारायण मंडल विश्वविद्यालय, मधेपुरा।
मो. : 9142823379

✧ ✧ ✧

संस्मरण

मन की बात

सुधा गोयल

जहाँ मन होता जमीन पर चटाई बिछाकर लेट लेते। दिन में चारपाई या पलंग बिछने का रिवाज नहीं था। अलगनी पर कपड़े टंगे रहते। पहले कपड़े भी गिनती के होते थे। कोई भी किसी के कपड़े पहन लेता था। हर बार बदल कर पहनना भी आवश्यक नहीं था। जूते चप्पल भी दो जोड़ी एक स्कूल के लिए एक घर के लिए। स्कूल के कपड़े प्रेस करके आलमारी के एक खाने में रख लेते।

कुछ बातें अचानक याद आ जाती हैं, जबकि वक्त के साथ वे अपना वजूद खो देती हैं। जिनके विषय में सोचने की जरूरत नहीं पड़ती। क्योंकि तब ऐसा चलन नहीं था। आज अचानक मायके का घर याद आया और बहुत सी बीतीं बातें भी। हालांकि अब वह घर नहीं रहा। दो बीघे के करीब जमीन बेच दी गई। न तब कोई गिला रहा और न अब है। उस घर को छोड़े पचपन साल हो गए। बहुत कुछ बदल गया।लेकिन आज भी मन जब चाहे उन गलियों में टहल आता है।

आज भी ऐसा ही हुआ। आजकल घरों में बड़े छोटे सबके कमरे अलग अलग, सबकी प्राइवेसी अलग। मुझे लगा कि मेरा कुछ उस घर में ऐसा क्या था। न अपना कोई कमरा, न अपनी कोई आलमारी, सब कुछ साझा। ऐसा भी कुछ नहीं जिसे छुपाया जाए। पूरे घर में गिनती की तीन खाने वाली पाँच आलमारियां जिनमें से दो पर मैंने और मेरी छोटी बहन ने कब्जा जमाया हुआ था और एक भाई की। एक आलमारी में माँ रसोई का सामान रखतीं और दूसरी में उनकी गृहस्थी रहती।

पता नहीं भाई अपनी आलमारी में ऐसा क्या रखते थे कि ताला लगाने की जरूरत पड़ती थी। ताला भी चोर ताला जो चाबी के बिना अंकों के संयोजन से खुलता। जब भाई बाहर होते तो हम उसे खोलने का प्रयास करते। और एक दिन सचमुच अंक मिल गये और ताला खुल गया। अब अलमारी की तलाशी शुरू हुई। ऐसा कुछ खास नहीं मिला, हाँ कुछ किताबें जरुर थी जिन्हें शायद खाली समय में पढ़ते होंगे। उनकी किताबों में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं थी। जैसे आलमारी खोली वैसे ही बंद भी कर दी।

हम दोनों बहनों की आलमारी में अपनी अपनी किताब, कॉपी, डायरी पैन पेंसिल, कलर बॉक्स तथा थोड़ा कसीदे का सामान भी रहता। यह कमरा भी सबका साझा था। हम दोनों बहनें वहां बैठकर पढ़ाई करतीं, भाई सुबह सुबह वर्जिश करते, शाम को पिताजी की राजनीतिक मित्र मंडली जमती। कोई रिश्तेदार आ जाता तो वह भी वही टिकता। इस साझा कार्यक्रम में किसी को कोई परेशानी नहीं थी। हम घर में किसी भी कोने में बैठकर पढ लेते। हाँ घर की लड़कियां भी यहीं दिखाई जाती।

जहाँ मन होता जमीन पर चटाई बिछाकर लेट लेते। दिन में चारपाई या पलंग बिछने का रिवाज नहीं था। अलगनी पर कपड़े टंगे रहते। पहले कपड़े भी गिनती के होते थे। कोई भी किसी के कपड़े पहन लेता था। हर बार बदल कर पहनना भी आवश्यक नहीं था। जूते चप्पल भी दो जोड़ी एक स्कूल के लिए एक घर के लिए। स्कूल के कपड़े प्रेस करके आलमारी के एक खाने में रख लेते।

न अपनी क्रीम पाउडर, न बॉडी लोशन, ऐसा कुछ सोच में भी नहीं था। सादा खाना सादा पहनना, घर में कोठा दालान, दो कोठरी, एक आंगन, बाहर बैठक और चबूतरा, चबूतरे पर कुआं जिस पर मौहल्ले भर का पानी भरा जाता। दस प्राणी आराम से समाए रहते। ससुराल आई तो ऐसा कुछ लगा ही नहीं कि मायके में कुछ छूट गया है।

छूटीं थीं तो कुछ किताबें जो आलमारी में बंद थी, जिन्हें माँ ने बिना पूछे रद्दी वाले को बेच दिया। अफसोस तो बहुत हुआ। बस मुठ्ठी भर प्यार, अंजुरी भर स्थान, यही अपनी पूंजी रही। लौट कर कौन से चिन्ह ढूढती, जो दो चार कपड़े छूट गये थे उन पर छोटी बहन का अधिकार।

सोचती रही हूँ कि अब लड़कियाँ मायके आती हैं, अपने कमरे में सिमटती हैं, आलमारी खोलकर अपना सामान सहलातीं हैं। उनका कमरा ऐसे ही रहता है जैसा छोड़ कर गईं थीं। कोई छेड़छाड़ नहीं होती।

खुद को उधेड़ती हूँ कि क्या मेरी आंखों में भी कोई सपना आया था। ताज्जुब होता है कि मेरी जिंदगी में इतना खालीपन क्यों था? सपने देखने को किसने मना किया था। मेरे सपनों पर किसी का क्या अधिकार था? शायद सपने देखने का वक्त ही नहीं मिला।

झूठ नहीं है ये सब। सपने साझा नहीं होते। अपने, केवल अपने, शायद इसीलिए नहीं देख पाई। खैर वह वक्त भी मुठ्ठी में बंद रेत सा फिसल गया।शेष जीवन में थमने और सपने देखने का वक्त नहीं मिला। कब सुबह हुई कब रात, इसी का पता न चला। जो शुरू से सपने देखते हैं सपने भी उन्हीं को आते हैं।

कागज काले करने और कलम चलाने का कोई सपना नहीं होता। ऐसे लोग पागल या सनकी कहलाते हैं। अक्षरों का क्या है तैरते हुए कलम में आ गये, सपने ऐसे नहीं आते।

पीछे लौटकर देखने, चाहने और आहें भरने जैसा कुछ था ही नहीं। जो वक्त ने दिया सिर झुका कर मान लिया। आज भी मानती आ रही हूँ। औरत कभी आजाद नहीं होती। वह चाहे स्वंय को कितनी ही आजाद समझ लें लेकिन उसके जीवन में रहने वाला पुरुष-पिता, भाई, पति, पुत्र उसके दिल दिमाग पर शासन करते रहते हैं। इसी लिए मैं किसी भ्रम में नहीं जीती।

शासक और शासित का रिश्ता शिद्दत से निभा रही हूँ।

सुधा गोयल, 290–ए, कृष्णा नगर, डॉ. दत्ता लेन, बुलंदशहर–203001
मो. : 9917869962, ई–मेल : sudhagoyal0404@gmail.com

✧ ✧ ✧

अंधेरे से प्रकाश की यात्रा

सुभाष रस्तौगी

पुस्तक – सम्पाति
लेखक – कँवल नयन कपूर
प्रकाशक – ईशा ज्ञानदीप, नई दिल्ली
मूल्य – 695/–

अनेक साहित्यिक विधाओं और कला माध्यमों में एक साथ सृजनरत यशस्वी कवि, नाटककार, समीक्षक, चित्रकार, स्थापत्य विज्ञ, अध्यात्मरत साधक कँवल नयन कपूर के बारे में यह कहना मुश्किल है कि वे मुख्यत: कवि है, नाटककार है, समीक्षक है अथवा चित्रकार, बल्कि उनके बारे में यह कहना ज्यादा सही प्रतीत होता है कि रचना उनके यहाँ कागज पर उतरने से पहले विधा का चुनाव स्वयं कर लेती है लेकिन यह भी सही है कि उनकी रचना में उनका नाटककार, चित्रकार एवं अध्यात्मरत साधक निरन्तर सक्रिय रहता है। कपूर की सद्य: प्रकाशित काव्य-कृति कविता-क्रम 'सम्पाति' इस सत्य की तसदीक करती है। हरियाणा की लम्बी कविता के पुरोधा कवि कँवल नयन कपूर ने इस काव्य कृति में सम्पाति से जुड़े एक छोटे से पुराख्यान को अपने इस कविता क्रम में इतनी कुशलता से ताना और बुना है कि अचरज होता है। वास्तव में कवि की यह काव्य-कृति एक सुखद आश्चर्य के रूप में ही सामने आई है। एक श्रेष्ठ नाटक के शिल्प में बुनी-गुंथी कविता-क्रम सम्पाति में मुख्य भूमिका भले एक अध्यात्मरत साधक की हो, लेकिन यह गौरतलब है-

हम सब के सब सम्पाति है
अपना-अपना सूर्य पाने को
मरे-खपे जाते है पल-पल।

यदि इन उपर्युक्त पंक्तियों का अन्वय किया जाये एक सौ काव्य चरणों में विभाजित इस कविता-क्रम 'सम्पाति' का मुख्य सरोकार 'द्वन्द्व' और केवल 'द्वन्द्व' ही उभकर सामने

आता है। 'द्वन्द्वअपना-अपना सूर्य पाने का। यह 'द्वन्द्वसंघर्ष का ही पर्याय है और निश्चय ही संघर्ष हिन्दी लम्बी कविता का ही नहीं, समग्र समकालीन हिन्दी कविता का केन्द्रीय अथवा बुनियादी तत्व है।

एक अन्य विशेषता कवि की इस सद्य: प्रकाशित कविता-क्रम-'सम्पाति' को लम्बी हिन्दी कविता परिदृश्य में अपना एक अलग अभिधान प्रारूप प्रस्तुत करती है, वह यह है कि एक सौ चरणों में विभाजित यह कविता क्रमबद्धता की दृष्टि से एक लम्बी कविता भी है, कहीं रूप-बंध की दृष्टि से यह एक सौ स्वतंत्र लम्बी कविताएं भी है। 'पूर्वरंग एक', 'पूर्वरंग दो', 'पूर्वरंग तीन' 'संकेत' और 'वृंदगान' जारी है। कहीं इसके फॉर्मेट में नाटक के सार्थक दखल की गवाही देते है। कवि का मकसद यहाँ जिस सत्य को रेखांकित करता है वह यह कि उड़ान तो शाश्वत है-सम्पाति की भी और संघर्षधर्मा मनुष्य की भी। देखे ये पंक्तियाँ काबिले गौर है-

'उड़ान तो शाश्वत है/सतत् चलती है/कभी आगे, कभी-पीछे, कभी साथ-साथ/
बाहर भी भीतर भी/ भीतर भी बाहर भी /जाने-अनजाने, चाहे-अनचाहे
जगते-सोते, जीते-मरते/ उड़ान तो शाश्वत है, सतत् चलती है।'

सम्पाति के मन में द्वन्द्व है अपनी पहचान को लेकर-वह देव है या दानव, किन्नर है या नर और सत्य यह हाथ लगता है-कौन जान सका है स्वयं को, सब जिन्दा है जीने की नियति लेकर। प्रश्न पर प्रश्न उठाती है यह कविता अपने अस्तित्व का स्वयं के होने का प्रश्न-

वैदिक ऋषि कश्यप और प्रजापति तनुजा ब्रह्मवादिनी/जन्य सन्तति कैसे सम्भव है/
स्वरूप से ही मानवेत्तर/फिर भी, स्वभाव-आचरण से/दानव-दैत्य-देवता,/
कोई भी कुछ भी हो सकता है/ लेकिन सत्य यह है कि/कदापि सब के सब
प्रकारान्तर से भिन्न रूप गुण धर्म से/ सब, सब में परस्पर स्थित है।

इस द्वन्द्व-संघर्ष का ही पर्याय है सम्पाति। सम्पाति का सम्पूर्ण संघर्ष अपने सूर्य को प्राप्त करने हेतु है। इस प्रयास (दुष्प्रयास) में उसके पंख जल जाते है और एक पीडाजनक स्थिति में पड़े रहना उसकी नियति बन जाती है। लेकिन निरन्तर संघर्षरत बने रहना उसका स्वभाव है। इस चुनौतिपूर्ण स्थिति को पूरी कविता में ताने रखना सहज नहीं है, लेकिन इसे संभव करना कँवल नयन कपूर जैसे सिद्धस्थ कवि के सामर्थ्य की ही बात है।

कवि ने स्वयं के रचनाकार के प्रति एक चुनौती उछाली है कि यदि रचना है तो ऐसा रचो तो अदभुत अलौकिक कृति हो अपने आप में। कवि की यह रचना दृष्टि काबिले गौर है-

रचना है तो रचो अपने आप को नित नवीन/बनो वैसा-वही-अपूर्व
सुन्दर-प्रिय-परम हितकारी वैसा/प्रकृति रचना चाहती है तुमको जैसा।''

कवि का मानना है 'देह एक यज्ञ कुण्ड है'। आमन्त्रण यह है कि हमसब भीतर की अग्नि को प्रकाशित करें। यह इसलिए भी जरूरी है कि हम सब 'उड़ानधर्मी' हैं। यहाँ कवि का मकसद सम्पाति के माध्यम से मनुष्य के पूरे विकास क्रम का एक रूपक रचना प्रतीत होता है। मनुष्य के यौवनारम्भ की यह यात्रा अद्‌भुत है, अनूठी है, अपूर्व है-

ज्यों थाप में ताल बजता है
ज्यों स्पर्श से सुर सजता है

ज्यों शब्दों में अर्थ रहता है
ज्यों अर्थों में अहसास रहता है

यौवन के आते ही मनुष्य को 'स्वप्न नवतर' आने लगते है। कवि की माने तो 'यौवन अद्‌भुत राग बोध' है।

सम्पाति का आत्म संघर्ष प्रकाश की-अजस्त्र आदिम यात्रा है और उड़ान उसका गन्तव्य है तो नियति भी और यही नियति सम्पाति को निरन्तर उड़ने और ऊपर उड़ने के लिए उत्प्रेरित करती रही-

कि उठो/जागो/चलो/चलो नहीं दौड़ो/ दौड़ो नहीं उड़ो।
हर उड़ान से आगे और उड़ो/भरो उड़ान सूर्य तक
अपने गन्तव्य तक/क्या कुछ और भी था?
-हाँ-/भूख थी/पेट की, शरीर की, नीयत की
राहत की, चेतना की/इर्द-गिर्द भूख ही भूख थी
सब कुछ पाने की/सब कुछ खोकर
परम कुछ पाने की/भूख थी सिर्फ मेरी............

अन्ततः यह महायात्रा शाश्वत है, यह सम्पाति का सच भी है और सम्पाति से अधिक बड़ा सच अध्यारत्मरत साधक कविवर कँवन नयन कपूर का है और जो हासिल होता है वह यह है-

अनादि से/अनन्त तक/सतत् एक/ महायात्रा/ जारी है।

सम्भवतः कँवल नयन कपूर की सद्यः प्रकाशित काव्य-कृति कविता-क्रम 'सम्पाति' की एक सौ काव्य रचनाएं स्वयं से स्वतन्त्र रचनाएं भी है और उनमें भाव-विचार की एक क्रमबद्धता भी है। सम्भवतः इसीलिए कविवर ने इसे लम्बी कविता काव्य-श्रृंखला की संज्ञा दी है। इसी कृति का मुख्य सरोकार है द्वन्द्व। सम्पाति के पंख जल गये है लेकिन वह नव निर्माण के प्रति आशान्वित है, क्योंकि उसके नये पंख अब उगने लगे है।

अन्धेरे से प्रकाश की यात्रा का नाम है 'सम्पाति' और द्वन्द्व और उड़ान इसके दो मुख्यः घटक तत्व है। अध्यात्म-रत साधक श्री कपूर की रंग चेतना का भी इसमें सुन्दर सन्निवेश है जो इसे एक अलग आयाम प्रदान करता है।

कँवल नयन कपूर, ईशा ज्ञानदीप, 4648/1, गली नं0–21 (एफ–8), जगदम्बा भवन,
अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली–11002

पराजित ममता

डॉ. संजीव चौधरी

जल्द ही बच्चों की किलकारियां गूंजने लगी और जोड़ा भी उनकी परवरिश से आनंदित रहने लगा। पड़ोसी चिड़े अपनी सलाह न मानने के कारण इस जोड़े से रूठे हुए थे। एक दिन जब चिड़ा दूर दाना पानी लाने गया हुआ था, बच्चों ने चिड़ी से अपनी फरमाइश पूरी करने की जिद मचा दी। मजबूरन चिड़ी को निकलना पड़ा और बच्चे नितांत अकेले हो गए। पड़ोसी चिड़े से खबर पाकर एक दुष्ट कौआ आकर उन्हें तंग करने लगा और घोंसला तहस नहस करने की कोशिश करने लगा। बच्चों की करुण चीत्कार सुन सांप की नींद खुल गई और वह बाहर झांकने लगा। सारा माजरा समझ वह तेजी से ऊपर आया और फुंफकारने लगा।

"मेरे बच्चे को बचा लो, भगवान,चाहे मेरे प्राण ले लो। डाक्टर साहब ने सारी उम्मीदें छोड़ दी है और दुआ मांगने को कहा है। उनका कहना है कि जीवित भी रहा तो जीवन भर के लिए लुंज-पुंज रह सकता है। चाहे जिस हाल में भी हो, जैसा भी हो, मुझे मेरा बच्चा जीवित लौटा दें, प्रभु। मैं सदा आपकी ऋणी रहूंगी।" माँ प्रेमशीला की करूण गुहार से शायद ईश्वर का दिल पसीज गया या चिकित्सक की जी तोड़ मेहनत, शिशु प्रांजल को जीवनदान मिल गया।

आज वह सोलह साल का हो चुका है लेकिन सिर्फ मुस्कुरा कर माँ की ओर देख भर पाता है। न दौड़ कर उनकी गोद में बैठ कर तोतली बोली में ही सही बातें कर सकता है न पिता को घोड़ी बना कर सवारी कर उनका जिया जुड़ा सकता है। बिस्तर से उसका अंतहीन लगाव अब दादा दादी नाना नानी को भी चुभने लगा है। सबकी उम्मीद कि वह एक दिन बिल्कुल सही हो जायगा, खेलेगा कूदेगा और सबको हंसाएगा, इतने सालों बाद पूरी तरह टूट चुकी थी। जिस चमत्कार के भरोसे माँ की ममता पूजा पाठ, उपवास, कठिन से कठिन व्रत में लगी रहती थी वह भी असंभव सा लगने लगा था। उसके कष्ट का अनुभव ममता को पराजित करने लगा था। तभी तो इधर कुछ दिनों से प्रेमशीला अपनी प्रार्थना में गाहे-बगाहे उसके लिए मुक्ति की कामना करने लगी थी।

''हे भगवान, आप प्रांजल पर विशेष कृपा करें।या तो अपने आशीर्वाद से इसे पूर्णतया स्वस्थ कर दें या फिर इसे मृत्यु प्रदान करें।'' दो दिनों से प्रेमशीला लगातार अन्न-जल त्याग यही रट लगाए जा रही थी। इस बार भी ईश्वर ने उसे निराश नहीं किया और पति शोकहरण ने रूंधे गले से अभी अभी प्रांजल के निष्प्राण होने का समाचार उसे सुनाया।

हितैषी

जिस पेड़ पर चिड़ों का घोंसला था उसके तने के कोटर में एक विषैला सांप भी रहा करता था। किसी दिन पड़ोसी चिड़े ने उन्हें समझाने की कोशिश की कि या तो वे और कहीं चले जाएं या किसी तरह जुगत भिड़ा सांप को वहां से बेदखल कर दें। पता नहीं किस दिन अनिष्ट घट जाए। उस दिन के बाद से चिड़ी चिड़ा को नया घोंसला कहीं और बना लेने की जिद करने लगी। अब अंडों से बच्चों के बाहर निकलने का दिन भी करीब आ रहा था। पर चिड़ा सांप को इतने दिनों से उन लोगों से बेपरवाह ही पाता था। सर्दी भी बढ़ने लगी थी और नया घोंसला बनाने का वक्त कहाँ बचा था। पता लगा न घर के रहे न घाट के। आखिर दोनों के कलह ने एक रास्ता सुझाया कि दोनों में से एक निगेहबानी के लिए सदा घोंसले में रहेगा और बच्चों को अकेला नहीं छोड़ा जाएगा।

जल्द ही बच्चों की किलकारियां गूंजने लगी और जोड़ा भी उनकी परवरिश से आनंदित रहने लगा। पड़ोसी चिड़े अपनी सलाह न मानने के कारण इस जोड़े से रूठे हुए थे। एक दिन जब चिड़ा दूर दाना पानी लाने गया हुआ था, बच्चों ने चिड़ी से अपनी फरमाइश पूरी करने की जिद मचा दी। मजबूरन चिड़ी को निकलना पड़ा और बच्चे नितांत अकेले हो गए। पड़ोसी चिड़े से खबर पाकर एक दुष्ट कौआ आकर उन्हें तंग करने लगा और घोंसला तहस नहस करने की कोशिश करने लगा। बच्चों की करुण चीत्कार सुन सांप की नींद खुल गई और वह बाहर झांकने लगा। सारा माजरा समझ वह तेजी से ऊपर आया और फुंफकारने लगा। अब कौए की काटो तो खून नहीं वाली स्थिति हो गई। वह जल्दी से भाग खड़ा हुआ। घर लौटती चिड़ी को पड़ोसी चिड़े ने फिर से सांप की शिकायत कर आगाह करना चाहा। अपनी आंखों से सबकुछ देख चुकी चिड़ी ने उन्हें बुरी तरह झिड़क दिया और सांप का धन्यवाद अदा करने बढ़ी, परंतु वह चुपचाप अपने बिल में वापस लौट चुका था।

डॉ. संजीव चौधरी, फ्लैट नं0–डी–905, आशादीप ग्रीन एवेन्यू अपार्टमेंट, अक्षय पात्रा मंदिर के निकट, जगतपुरा, जयपुर, राजस्थान–302017, मो. : 9810518727

स्त्री मन का विराट मानवीय विस्तार

(संदर्भ : मौन का महाशंख - भावना शेखर)

आनन्द वर्धन द्विवेदी

कविता सं0 : मौन का महाशंख
कहानीकार : भावना शेखर
प्रकाशन : प्रतिभा प्रतिष्ठान, 1661, दखनीराय स्ट्रीट, नेताजी, सुभाष मार्ग नई दिल्ली–110 002
मूल्य : 250 रूपये

भावना शेखर आज के समकालीन परिदृश्य की एक जागृतचेता कवयित्री के रूप में दूर से पहचान में आने वाली उपस्थिति हैं जिनका पहला संकलन 'साँझ का नीला किवाड़' अपनी सघन अनुभूति की कविताओं के नाते बहुत मनोयोग से पढ़ा-समझा गया, प्रशंसित भी हुआ। भावना जी का यह दूसरा कविता संग्रह 'मौन का महाशंख' अपनी नज्मनुमा कविताओं के चलते ध्यान खींचता है। इसमें उर्दू की नज्मों की सी रवानी और कोमलता है परन्तु अपनी अभिव्यक्ति को बरतने का उनका तरीका कुछ अधिक भावुकता से भरा होने के कारण एक तटस्थ आकलन में वस्तुनिष्ठता की प्रामाणिकता के कमतर हो जाने से कई बार बहुत साफ पकड़ में आ जाता है। हो सकता है कि यह उनका उर्दू के नज्मों की हृदय को छू लेने वाली शैली से प्रभावित या कि आक्रांत होने का परिणमन हो या उनका कवि-मन इसी तरह से स्वयं को अधिक त्वरा के साथ व्यक्त करने में सहज अनुभव करता हो।

आज कोई कवि-कवयित्री कविता लिखे और उसमें उसके जीवनानुभव और जीवन यथार्थ के चित्र न मिलें, यह कैसे सम्भव है। स्त्री कवियों का स्त्री जगत स्वयं में इतना विराट और इतनी तरह की अनुभूतियों की एक असमाप्त पीड़ार्द्र महागाथा है जिसे हर कवयित्री अपनी तरह से, अपने वैयक्तिक संस्पर्श से नव्य और अपने पाठक के अनुभव से संपृक्त बनाने की चेष्टा करती है। लेकिन

गौर से देखें तो बहुत सारी स्त्री कवियों की यही अन्तिम सीमारेखा भी हो जाती है। वह खूँटे में बंधे किसी चतुष्पादी की तरह उतनी ही दूर तक की दूब की हरीतिमा का आस्वाद ले पाती है जितनी दूर तक उनके गले में बंधी रस्सी की परिधि उन्हें अनुमति देती है। गौर करें तो पाएंगे कि बहुत कुछ इसी तरह की सीमाबद्धता बनी रही जिसमें उर्दू के अधिकांश कवि सदियों हुस्न, इश्क, जाम, साकी, पैमाना, लटों-जुल्फों में उलझे रहे और उनकी कविता बासी, ऊबाऊ और यहाँ तक कि मरणासन्न सी हो गई और एकरसता के इस घटाटोप को भेदने के लिए उर्दू कविता केवल और केवल उक्ति वैचित्र्य की बैसाखी पर जैसे टिकी रही और अपने पाठक में अगर वह कुछ स्पंदन करा पाती थी तो वह केवल यही एक युक्ति थी।

कोई यह नहीं कह सकता कि हमारी आज की कवयित्रियों में उनकी सबसे प्रामाणिक अनुभूति प्रेम, प्रकृति, घर-परिवार, आत्मीय सम्बन्धों की वक्रताएँ, उनको हाशिये पर छोड़ दिए जाने की विडंबनाएँ--उनकी कविताओं में नहीं होनी चाहिए, लेकिन यह जरूर है कि केवल ये भर ही नहीं होनी चाहिए। उनसे यह अपेक्षा अवश्य है कि केवल स्त्री यथार्थ ही उनका प्रतिपाद्य हो और बचा हुआ समूचा विस्तृत जीवन उनकी कूँची से रंगे बिना ही छूट जाय, यह न तो स्वीकार्य है, न ही पर्याप्त। स्त्री के इस आत्मानुभाव की इस दुनिया के बाहर एक बहुत बड़ी दुनिया है जो उसके अनुभव जगत का हिस्सा बनने के लिए व्यग्र है, और अपने को उनके द्वारा सतर्क और प्राणवान ढंग से व्यक्त किए जाने के लिए आतुर भी।

'मौन का महाशंख' इस अर्थ में एक उल्लेखनीय कृति बन जाती है, जब वह अपने संवेदन से एक पुरुष के संघर्ष और जिजीविषा को शब्दायित करते हुए 'जूते' के मेटाफर का न केवल एक प्रगल्भ निर्वचन करती है, बल्कि उसके जुझारूपन को एक प्रशस्तिपत्र भी देती है कि कैसे जिंदगी से अनवरत लड़ रहे मनुष्य के पैरों में फीते कसे, उसके बंधे हुए जूते उसके लिए जैसे परों-पंखों में तब्दील हो जाते हैं और उसे सफलता के आकाश में उड़ा पाने में अपनी भूमिका लिख रहे होते हैं : मेरे जूते मेरे पंख हैं / सरपट उड़ाए लिए जाते हैं / रूखी-पथरीली-कंकरीली राहों पर / मुझे गड्ढ़ो-खंडो का भय नहीं / गर बंधे हैं ये पाँवों में। कविता मनुष्य को, उसके जीवन को, जीवन की विचित्रता और निस्सारता के प्रत्यय को, जैसे कोई संन्यस्त किन्तु प्रज्ञावान सतर्क दार्शनिक उसकी क्षणभंगुरता में ही नहीं, उसकी संपूर्णता में भी पकड़ने की मानवीय चेष्टा कर रहा हो, उसका यह एक उदात्ततम उपक्रम है। भावना जी की कविता भी इसे समेकित करने के प्रयास में पीछे नहीं है। वह झाग से भरे काफी के मग को गौर से देखती है, और उसे इसी काफी के मग में मानवीय जीवन और उसकी समूची निष्कृति का भान होने लगता है। उसे लगता है, झाग से भरा काफी का मग ऊपर-ऊपर से खुशियों के सैलाब की तरह हुलासमय परंतु उसकी तलहटी में दबे हुए कितने सारे स्वप्न प्रतीत होते हैं जिनकी आभा मन्द पड़ गई है, वर्ण कुम्हलकर धूसर-मटमैला हो गया है। उसे नया रचने का उत्साह काफी के मिल्क क्रीम की तरह उसके होठों पर एक मीठी स्मिति ला देता है, तभी जीवन धीरे-धीरे अपनी कुरूप सच्चाइयों की शक्ल में निषेधों-प्रतिषेधों से

संत्रस्त होकर असफलताओं-अवमाननाओं से रूबरू होने लगता है, फिर जिंदगी में उत्साह-उमंग का मुलम्मा उतरने लगता है और फिर जीवन जैसे एक निर्विकल्पता तथा कुंठित अवसान की ओर जाता हुआ दिखने लगता है, ठीक वैसे ही जैसे काफी की आखिरी घूंट ले लिए जाने के बाद भी मग की तलछट के रूप में काफी की कुछ बूंदें बची रह जाती हैं, सर्वथा निरर्थक और त्याज्य। जीवन के इस तरह कौतुकहीन होते जाने की कारुणिक नियति का इससे सुंदर बिम्ब और क्या हो सकता है जिसे भावना जी ने बड़ी दक्षता से सृजित किया है।

अच्छी-अच्छी, बड़ी-बड़ी बातें करने में भला क्या जाता है! आज का हमारा पूरा समकाल अच्छी-अच्छी बातों, शुभकामनाओं के महानद में जैसे सायास फेंक दिया गया है, उस महानद में जिसमें नृशंस प्रतिहिंसाओं और कुचाली षडयंत्रों के मगरमच्छ अपने जबड़े फैलाए हुए आतुर प्रतीक्षा में आँखें तरेरे हुए बैठे हैं, और इन झूठी, दिखावटी बातों में पड़कर आदमी हलकान हुआ जा रहा है। श्रीकांत वर्मा की एक पंक्ति है-- दुर्नीति पर चलें नीति पर बहस बनाए रखें

अस्तित्व का हामी है। वह अपनी इसी विचार-सरणि को जब जीवनानुभव के विस्तार में फलाता है तो अपने समूचे अमर्ष, रोष, प्रतिषेध और खिन्नता को अपनी कविताओं में उड़ेलकर अपनी सम्पूर्ण जलराशि बरसाकर निरभ्र हो गए आकाश की तरह निर्मल निष्कलुष हो जाता है, उपालंभों और प्रवंचनाओं के भार से मुक्त और सुखस्नातः गांठें बांधने से / दिल की दीवारों को बदनुमा बनाने से / प्रतिकार का चाबुक मारने से / मन की मिट्टी में विषवृक्ष बोने से / बेहतर है / दुःख को झाड़ देना, बुहार देना / दो-चार सख्त कविताएं लिखकर।

दुराचरण करें सदाचार की चर्चा चलाए रखें --- इस नीतिवाक्य में जितनी वितृष्णा और आज के मनुष्य के चरित्र के दुहरेपन तथा खोखलेपन को विन्यस्त किया गया है और जिसके व्यंग्य के धार से उद्‌भूत तिलमिलाहट सर्वांग में जो एक घृणास्पद सा रोमांच पैदा करती है, कुछ उसी मनोभूमि पर अपने कथित आत्मीयों के धोखे-फरेबों और दो मुंहेपन से आजिज आ कर 'मौन का महाशंख' के कवि को कहना पड़ा है **:** मैं चाहती हूँ / निगाह मेरी कमजोर हो जाए / गैरों-अजीजों में / फर्क न कर पाऊँ / याददाश्त पड़ जाए / कुछ इस कदर धुंधली / कि दगा देने वालों की शक्ल भूल जाऊँ। इसी तरह जिंदगी की तल्खियों और खलिशों से मुठभेड़ करता हुआ कवि जब समूचे समाज जीवन और और उसके व्यवहार को परिभाषित करने की मुद्रा में आता है तो वह जैसे कोई स्वस्तिवाचन करने लगता है **:** बहुत आसां है / कोंचना और कोसना / शिकवा-शिकायत / तोहमत-फजीहत / --------/ आसां नहीं पर / चार कदम चलना / पहनकर उसकी / छेद वाली जूतियाँ। सजग पाठक नोट करता है, इस कविता में कविता कहाँ है---उद्धरणीयता के

व्यामोह में नहीं फँसें तो भी 'चार कदम चलना / पहनकर उसकी / छेद वाली जूतियाँ' की पदावली क्यों हमारी स्मृति में बसी-धँसी रह जाती है।

ध्यान दें तो पाएंगे कि यहीं है वह कविता जो आपकी संवेदना के तार को बहुत देर तक झिझोड़ती रहती है। 'मौन का महाशंख' का कवि स्त्री होने, स्त्री की सार्वकालिक पीड़ा का भोक्ता होने और पुरुष जाति की सामाजिक संरचनागत कन्डीशनिंग के चलते उसके स्त्री जाति के प्रति काफी कुछ अनायास ही सही, लेकिन एक किस्म की उपेक्षा और तिरस्कार तथा कई बार नृशंसता को छूते उसके स्वभाव को बहुत अच्छी तरह से जानने पहचानने के बावजूद वह अपने विमर्श को पुरुष के प्रतिपक्ष या कि विलोम में पर्यवसित नहीं करता। वह पुरुष के साथ सहकार और सह

अस्तित्व का हामी है। वह अपनी इसी विचार-सरणि को जब जीवनानुभव के विस्तार में फलाता है तो अपने समूचे अमर्ष, रोष, प्रतिषेध और खिन्नता को अपनी कविताओं में उड़ेलकर अपनी सम्पूर्ण जलराशि बरसाकर निरभ्र हो गए आकाश की तरह निर्मल निष्कलुष हो जाता है, उपालंभों और प्रवंचनाओं के भार से मुक्त और सुखस्नात: गांठें बांधने से / दिल की दीवारों को बदनुमा बनाने से / प्रतिकार का चाबुक मारने से / मन की मिट्टी में विषवृक्ष बोने से / बेहतर है / दु:ख को झाड़ देना, बुहार देना / दो-चार सख्त कविताएं लिखकर। कवयित्री के रूप में भावना जी की यह वीकारोक्ति उनकी सदाशयता का प्रमाण है, कि आत्मदया का, कि स्त्री के रूप में स्थितियों के प्रति समर्पण का, या कि जीवन के बदलते हुए समयमान को अपने सहभाग से उसकी शर्तों को अपनी ओर मोड़ने के उसके प्रयत्नों का, 'पगडंडी' शीर्षक उनकी कविता इन सभी चीजों को उनके सम्यक परिवेश में आविष्कृत भी करती है, व्यवहरित भी : बरसों तना रहा / सुघड़ सज्जा का आवरण / घर की तरह मेरे मन पर भी / पर्दे की चुन्नट ठीक करते / बीत गई उम्र ।

संभवत: इन्हीं तथ्यों को रेखांकित करने के उद्देश्य से ख्यात आलोचक ओम निश्चल ने ' मौन का महाशंख' के "लैप पर लिखा है कि भावना शेखर अपनी कविताओं में पुरुष को प्रतिलोम में खड़ा न कर स्त्री को महाकविता के अनन्य छंद के रूप में देखे जाने का आग्रह करती हैं। और इस अर्थ में भावना जी की इस संकलन की कविताओं के कथ्य और शिल्प की व्याप्ति इतनी आंतरिक और हृदय के गहन गह्वर में सँजो कर रखे जाने के कौशल से सम्पन्न है कि उसका भावांतरण यदि हृदयोछ्वास में किया जाए तो तो यह पाठकों की सुदीर्घ स्मृति की जीवंत प्रवहमानता का एक अविस्मरणीय सत्वांश सरीखा होगा।

आनन्द वर्धन द्विवेदी, 2/217 (दूसरा फ्लोर), विजय खण्ड–2, गोमती नगर, लखनऊ–226010
मो. : 941500645, ई–मेल : avdwivedi1958@gmail.com

✧ ✧ ✧

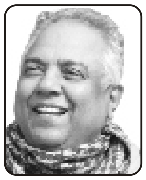

रात हमारी बात न माने

दिन बनकर हम क्या कर लेंगे
रात हमारी बात न माने
उसकी जिद का क्या जो घर की
छाती पर ही तंबू ताने।

जो धीवर को ही उतार दे
उस नौका की गति क्या होगी
बिना चिकित्सक की सलाह के
खाने लगा दवा है रोगी
सारी दुनिया लोहा माने
लेकिन अपनी जात न माने।

बजता तो है सच सरोद-सा
लेकिन शोर झूठ का ज्यादा
घुड़सवार के घोड़े से चिढ़
पत्थर मार रहा है प्यादा
संविधान के निर्देशों को
भूतों की बारात न माने।

एक कमासुत, सौ जाहिल हैं
जहाँ, वहाँ की बात जुदा है
टांग खींचनेवाले वंदों के
भीतर जज्बात जुदा हैं
संकट में संतों का आश्रम है
जो दिन को रात न माने ।

राम जन्मभूमि

वैसे तो हर साल बरसता सावन था
अबकी सावन अमृत कुम्भ लेकर आया।

उमगी-उमगी फिरें अवध में सरयू जी
रामकथा अंकुरित अयोध्या में फिर से
वनवासी बाना उतरेगा राघव का
सीता कनक भवन में लौटेंगी फिर से
आँसू से भींगी धरती मुसकाएगी
उसका बेटा नया कल्प लेकर आया।

दुनिया ने देखा प्रभु को दंडकवन में
दुनिया देखे नये राम का नया भवन
असुरों का भ्रम टूट रहा धीरे-धीरे
नव जागृति का विश्व कर रहा अभिनंदन
होना है अभिषेक अवध के गौरव का
तिलक स्वयं नर इन्द्र आज लेकर आया।

राम हमारे नहीं मात्र इतिहास- पुरुष
राम हमारी ऊर्जा हैं, उन्नायक हैं
उनकी जन्मभूमि है कुंजी संस्कृति की
जिससे चढ़ते प्रत्यंचा पर सायक हैं
कुरुक्षेत्र को कृष्ण दिया जिस भादो ने
वही भाद्रपद नया राम लेकर आया।

डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र
मो. : 6397677279, ई-मेल : buddhinathji@gmail.com

गीत

कहाँ गई सावन में

साँवली सलोनी तू कहाँ गयी सावन में
द्रिग-द्रिग धा बूँद थिरके हैं फिर आँगन में,
बूँदों की डोर पकड़ आ जाओ पार इधर
फिर से ना बीत जाए रीते दिते दिन सावन में।

तड़-तड़-तड़ ताड़ों के पत्ते अब बजते हैं
जुगनुओं के झुण्ड हरे वृक्षों से सजते हैं,
मेंढ़कों के टर्-टर् स्वर चहुँओर मचते हैं
टिप्-टिप् ओसारे के नीचे स्वर जगते हैं।
प्यारी तू आओ न! मौसम मन-भावन में। फिर से ना......

गरज-गरज बादल सोते से जगाता है
छिंटका बिजलियों को याद तेरी लाता है
साँय-साँय झम्प-झपर झंझानिल आता है
कहीं सुप्त कोषों में नाम सुलग जाता है
सपनीला फूल खिला दो ना मन पावन में। फिर से ना......

तू हो तो सावन सलोना बन जाता है
तू हो तो दावानल सोना बन जाता है
तू हो तो दिल का हर कोना सज जाता है
तू हो तो दिल का हर कोना सज जाता है
तू हो तो इन्द्रधनु आँखों में तन जाता है
अब तो जला दो अगन तरल सरल साजन में। फिर से ना......

डॉ. अमर कान्त कुमर, अध्यक्ष, हिन्दी–विभाग, एम.एल.एस.एम. कॉलेज, दरभंगा, बिहार
मो. : 9430236078

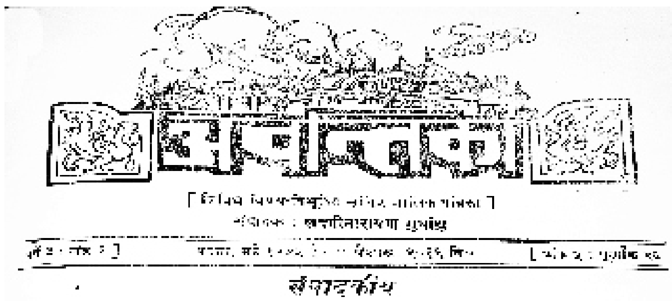

साहित्य यात्रा के दस्तावेज स्तंभ में हिंदी के कीर्तिशेष रचनाकारों की रचनाओं का पुनर्प्रकाशन किया जाता है ताकि नयी पीढ़ी का साक्षात्कार अपनी विरासत से होता रहे। इस स्तंभ के अंतर्गत हम वैसे रचनाकारों की रचना प्रकाशित करने का प्रयास करते हैं। जिनकी जयंती या पुण्यतिथि पत्रिका-प्रकाशन के माह में पड़ती हो। 18 जनवरी 1908 को पूर्णिया की पावन धरती पर अवतरित हुए डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु उच्च कोटि के साहित्यकार और राजनीतिज्ञ थे। उनकी पावन स्मृति को नमन करते हुए अवंतिका के मई 1955 अंक में संपादकीय के रूप में उनके द्वारा लिखे गए लेख 'हिंदी का भावी रूप' का प्रकाशन इस अंक में किया जा रहा है। डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु का यह संपादकीय लेख वर्तमान संदर्भ में भी अत्यंत प्रासंगिक है।

हिन्दी का भावी रूप

डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु

आचार्य काका कालेलकर एक विख्यात हिंदी प्रेमी हैं। विगत महीने में काका साहब ने नई दिल्ली से ऑल इंडिया रेडियो पर भाषण करते हुए हिंदी के भावी रूप पर अपने विचार प्रकट किए हैं। काका साहब गुजराती तथा मराठी के गण्यमान्य विद्वान् हैं और राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति उनकी अविचलित निष्ठा ने हिंदी-भाषा तथा साहित्य में भी उन्हें अधिकारिक प्रवेश दिया है। भारत की स्वाधीनता-पूर्व राजनैतिक परिस्थिति में राष्ट्रपिता बापू की ओर से काका साहब हिंदी-हिंदुस्तानी आंदोलन के मुख्य पुरोहित थे। बापू ने हिंदी भाषा में राष्ट्रभाषा के अनुकूल संभावनाएँ देखीं और सारे देश के

अहिंदी क्षेत्रों में उसके प्रचार का प्रयत्न किया। कुछ दिनों के बाद हिंदू मुस्लिम-ऐक्य का वातावरण देश के दुर्भाग्य से विनष्ट हो गया और सांप्रदायिक भावनाएँ दोनों पक्षों में काफी बढ़ गई और यहाँ तक बढ़ गई कि उनसे मानवता की संहार-लीला शुरू हो गई। इससे देश का राजनैतिक पक्ष बड़ा दुर्बल हो गया। बापू ने भाषा के माध्यम से हिंदू मुस्लिम-ऐक्य को फिर से संस्थापित करने की चेष्टा की, किंतु वे इस कार्य में सफल नहीं हो सके। हिंदी भाषा की स्वाभाविक शैली में अरबी-फारसी के शब्दों को मिलाकर हिंदुस्तानी भाषा का निर्माण करना जितना अस्वाभविक था उतना ही दोनो पक्षों के लिए क्षोभकारक भी। हिंदुस्तानी भाषा की लिपियाँ दो रखी गई-नागरी और फारसी। बापू के प्रभाव के कारण हिदुस्तानी भाषा की कुछ प्रगति भी हुई, लेकिन वह बहुत दूर तक आगे नहीं बढ़ सकी, क्योंकि आगे बढ़ने की क्षमता उसमें बिलकुल नहीं थी। धक्का देकर जहाँ तक वह बढ़ सकती थी वहीं तक वह बढ़ी। जिस राजनैतिक उद्देश्य से हिंदुस्तानी भाषा का निर्माण तथा प्रचार किया गया, वह पूरा नहीं हो सका। भारत को स्वाधीनता मिली, पर हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य के नाम पर नहीं। हिंदुस्तान तथा पाकिस्तान के नाम पर दोनो पक्षों ने देश का बँटवारा कर लिया। हिंदुस्तानी भाषा का माध्यम अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका। इसी कारण हिदी-हिंदुस्तानी पर विचार करते समय भारत की स्वाधीनता-पूर्व तथा स्वाधीनतोत्तर परिस्थितियों पर ध्यान रखना जरूरी है। काका साहब ने परिवर्त्तित परिस्थिति में अपने विचारों में भी समयानुकूल परिवर्त्तन किए हैं। अपने भाषण में उन्होंने स्वत: प्रश्न उठाकर जिज्ञासुओं का समाधान किया है-

''लोग मुझे अवश्य पूछेंगे कि तब उर्दू का क्या?

उर्दू को लेकर आप हिंदुस्तानी शैली चलाना चाहते थे उसकी स्थिति अब क्या है?

''मैं वास्तववादी हूँ। परिस्थिति को समझकर चलता हूँ। देश का बँटवारा होने से परिस्थिति में बड़ा फर्क पड़ा है। उर्दू कमजोर हो गई है। पाकिस्तान में उर्दू को अपना स्थान कहीं है नहीं। पाकिस्तान की प्रधान भाषाएँ है- सिंधी, पंजाबी, पश्तो और कश्मीरी तथा इस तरफ बंगाली। देश का बँटवारा होने से उर्दू को जितना नुकसान हुआ है उतना किसी भी भाषा और साहित्य को नहीं हुआ है। पाकिस्तान में उर्दू चल रही है- राज सत्ता के और सांप्रदायिक जोरों पर। उसका अपना निजी क्षेत्र है नहीं। उर्दू बोलनेवाली सामान्य जनता पाकिस्तान के पास है नहीं। उर्दू के लिए अगर कोई स्वाभाविक स्थान है तो वह भारत में ही है और अगर कोई स्वाभाविकता भारत में कायम करनी है तो अब उर्दू को दो लिपियों में स्वीकार किए बिना चारा नहीं। नागरी का सहारा लेकर उर्दू आज भी भारत में बढ़ सकती है।''

काका साहब ने स्पष्ट रूप से इस बात का संकेत किया है कि अब हिंदी या हिंदुस्तानी के लिए फारसी (उर्दू) लिपि आवश्यक नहीं रही, किंतु उर्दू के लिए नागरी लिपि आवश्यक हो गई। वस्तुत: उर्दू भाषा के जीवन में वह स्थिति उत्पन्न हो गई है कि अस्तित्व-रक्षा के लिए वह कोई उपाय खोजे। भाषा सांप्रदायिक नहीं होती, वह जरूरत पड़ने पर राजनैतिक उद्देश्य से वैसी बना दी जाती है। आज भारत में ही पूर्वी पंजाब के हिंदू अरबी-फारसी मिली हुई उर्दू भाषा का जितना व्यवहार करते हैं, उतना ही पश्चिम बंगाल के मुसलमान संस्कृत-मिश्रित बँगला भाषा का करते है। धर्म या मजहब ने इसमें कोई बाधा नहीं दी। उर्दू के बारे में काका साहब का यह विचार युगधर्म के अनुकूल ही है।

उर्दू के सामने एक बड़ी समस्या है। यदि उसके हिमायतियों ने फारसी लिपि में ही एकनिष्ठा रखी तो उर्दू का व्यापक प्रसार होने से रहा और यदि उर्दू को नागरी का आवरण दिया गया तो हिंदी में उसके विलीन हो जाने की बड़ी आशंका है। आज देश में, विशेषत: उत्तर भारत में, हिंदी-प्रेमियों की एक बड़ी संख्या ऐसी है जो उर्दू को कोई स्वतंत्र भाषा नहीं मानती, हिंदी की ही एक शैली मात्र समझती है। ऐसी स्थिति में नागरी लिपि में लिखी उर्दू को हिंदी मान लेना या समझ लेना असंभव नहीं है।

अरबी-फारसी के शब्दों को पचाने मे हिंदी किसी विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं करेगी। ठेठ उर्दू के लिए भी अरबी फारसी के शब्द आगंतुक ही हैं। जिस मिट्टी में उर्दू का अंकुर उत्पन्न हुआ और जिस वातावारण में वह पल्लवित पुष्पित हुई, वह अरबी-फारसी के अनुकूल नहीं है। मुस्लिम सत्ता के प्रभाव तथा सांप्रदायिक भावना के कारण उर्दू ने अरबी-फारसी के शब्दों से अपना रूप सजाया और फारसी लिपि का परिधान ग्रहण किया। भारत से मुस्लिम-सत्ता की छाया भी विलीन हो गई है, सांप्रदायिक भावना अवश्य ही मौजूद है, लेकिन अकारण उत्तेजन के लिए उसे प्रोत्साहन नहीं। उर्दू के हिमायती उर्दू के भविष्य पर गंभीरता पूर्वक विचार कर रहे हैं। इस बात को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं हो सकती कि काका साहब जैसा उर्दू भाषा तथा फारसी लिपि का कर्मठ प्रचारक खो गया।

उर्दू के बारे में काका साहब का विचार अब स्पष्ट रूप से प्रकट है, किंतु हिंदी के भावी रूप के संबंध में उन्होंने अपने रेडियो भाषण में कहा-

''भारत के लोग मुझे हिंदी के उपासक के तौर पर ही पहचानते है और क्योंकि मैंने कई वर्षो तक दो लिपिवाली हिंदुस्तानी का प्रचार करके हिंदी वालों को कुछ नाराज भी किया है, इसलिए लोग अब जानना चाहते हैं कि हिंदी के भावी स्वरूप के बारे में आज मेरे विचार क्या है।

''हिंदी का भावी रूप क्या होगा? इस प्रश्न को गंभीरता से सोचने के दिन आ गए है। कोई कहते है, प्रांतीय हिंदी अलग है और राष्ट्र हिंदी अलग है। हमारे संविधान में प्रांतीय भाषाओं की फेहरिस्त में ही हिंदी-भाषा का जिक्र है और सारे भारत की सरकारी भाषा के तौर पर भी हिंदी का अलहदा जिक्र है। यह बताता है कि आइंदा के लिए हिंदी दो किस्म की होगी। तत्वत: यह बात सही है, लेकिन मैं नहीं मानता कि प्रत्यक्ष व्यवहार में हिंदी की ऐसी दो शैलियाँ हो सकेंगी।

''राष्ट्रीय हिंदी कितनी भी सर्व-संग्राहक और व्यापक हो, वह हिंदी ही रहेगी। क्योंकि हमें राष्ट्रीय हिंदी के नाम से कोई नई भाषा नहीं बनानी है। देश में परंपरा से जो हिंदी चलती आई है उसीका विकास करना है। हिंदी की शब्दावली, हिंदी की शैलियाँ, हिंदी की इडियम, हिंदी के मुहावरे और हिंदी की कहावतें, ये सारी बुनियाद मंजूर करके ही हम उस पर अपनी इमारत खड़ी कर सकते है। हिंदी के कवि, हिंदी के लेखक और खास करके हिंदी के वक्ता हिंदी भाषा के स्वाभाविक प्रभु है। इन्हें अलग रखकर हिंदी की बात सोची नहीं जा सकती।''

जहाँ तक मेरी जानकारी है, काका साहब ने इतने स्पष्ट में हिंदी-भाषा के संबंध में इसके पहले अपने विचार प्रकट नहीं किए थे। जहाँ तक हिंदी-भाषा की शैली का प्रश्न है, काका साहब ने हिंदुस्तानी के अपने प्रचारकाल में भी संस्कृत-गर्भित शैली का प्रयोग किया था। वर्धा से

प्रकाशित होनेवाले उनके संपादन-काल के 'सर्वोदय' के अंको को देखने से पता चलेगा कि काका साहब ने संस्कृत-गर्भित हिंदी भाषा को अपनी शैली के रूप में अपनाया था। स्वाभाविक रूप से आ जानेवाले अरबी-फारसी के शब्दों का परित्याग वस्तुत: उन्होंने नहीं किया। एक दिन हमने उनसे पूछा कि 'सर्वोदय' की भाषा को यदि आप हिंदुस्तानी मानते है तो फिर हिंदीप्रेमियों को इसमें नाम के अतिरिक्त और क्या आपत्ति हो सकती है! उन्होंने उत्तर दिया कि यह तो मेरी स्वाभाविक शैली है और अपने संभावित पाठकों को लक्ष्य कर ही मैं अपनी शैली बनाता हूँ। इस घटना को बीते एक दशक से अधिक हो गया। पहले की अपेक्षा आज उनकी शैली में 'रोजमर्रे के अलफाज' ज्यादा घुस आए हैं। काका साहब यह मानते हैं कि हिंदुस्तान की सब भाषाओं में अरबी-फारसी के कुछ-न-कुछ शब्द आए ही है, वैसे ही हिंदी में भी हैं। इनकी संख्या बढ़ने की संभावना अब कम है, घटाने की जरूरत नहीं हैं।

अपने भाषण में सिलसिले में काका साहब ने कहा-

''लेकिन अब हिंदी का भावी रूप भारत की बँगला, मराठी, तेलगू, गुजराती, तामिल आदि भाषाओं के सहयोग से प्रभावित होगा और इनका आदान-प्रदान ऐसे प्रसन्न वायुमंडल में होगा कि भारतवर्षीय हिंदी का स्वरूप प्रांतीय हिंदी को अखरेगा नहीं।

''प्रांतीय हिंदी और अखिल भारतीय हिदी, दोनों के प्रवाह एक दूसरे के साथ मिलते-जुलते रहेंगे और दोनो में शैली का भेद बढ़ने की संभावना नहीं रहेगी। संस्कृत का दूध जैसा भारत की अन्य भाषाओं को मिलता रहता है वैसा हिंदी को भी मिलता रहेगा। उर्दू ने अगर नागरी लिपि अपनाई तो उर्दू में भी संस्कृत की खुशबू बढ़ेगी और अरबी, फारसी तथा संस्कृत के त्रिवेणी-संगम से उर्दू एक समृद्ध भाषा बनेगी जो उर्दू लिपि के जामा के साथ अनेक समाजों की सेवा करेगी।''

उर्दू भाषा के लिए फारसी लिपि की अनिवार्यता काका साहब स्वीकार करते हैं, क्योंकि उसके व्यवहार का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। पाकिस्तान से लेकर तुर्किस्तान तक और अफिका में मिस्र से लंका-मोरा तक फारसी लिपि का प्रचलन है। अंतरराष्ट्रीय संपर्क की दृष्टि से उर्दू के लिए फारसी लिपि का व्यवहार त्याज्य नहीं माना जा सकता, किंतु भारत में हिंदी के लिए अब दो लिपियों का चलना मुश्किल है। काका साहब ने उर्दूवालों को यह चेतावनी दे दी है कि उर्दूवाले अगर अपना हित समझें तो उन्हें अभी से दो लिपियों का सहारा लेना चाहिए। उर्दू को अगर अपना क्षेत्र घटाना नहीं है, तो नागरी लिपि का उपयोग आवश्यक है। काका साहब के इस विचार का हृदय से स्वागत करते हैं।

डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु, अवंतिका, अजंता प्रेस प्राइवेट लिमिटेड

✧ ✧ ✧

मिल जाये ''खुदा'' तो

कुछ सवाल पूछ लूँ
अपनी भी कुछ सुनाऊँ
उनका भी हाल पूछ लूँ,
कहाँ है ठिकाना उनका
इन दिनों वो रहते कहाँ हैं,
मैं जिंदगी का उनसे ,
अंजाम पूछ लूँ।

कुछ शिकायतें हैं उनसे
कुछ फरियाद करनी है
जिसे कह न सकी हूँ अब तक,
अब वह बात करनी है,
कब होगा अंत इम्तेहानों की ,
आखिरी शाम पूछ लूँ,
मैं जिंदगी का उनसे,
अंजाम पूछ लूँ।

थक गयी हूँ उनको पुकारते पुकारते
उम्मीद भी हारने लगी हूँ अब
जवाब कभी देते नहीं हैं वे।
देखकर उनकी बेरूखी,
हताशा मन को घेरने लगी है
आंच आये आस्था पर मेरी,
इससे पहले मैं इसका निदान पूछ लूँ,
मैं जिंदगी का उनसे,
अंजाम पूछ लूँ।

गुड़िया कुमारी, ग्राम+पो. : राजेयाँ, थाना : पीरो, जिला : भोजपुर–802159
मोबाइल नंबर : 6201744932

महापण्डित काशीनाथ पाण्डेय का आकर्षक चित्र।

प्रो. शैलेन्द्र कुमार चौधरी को साहित्य यात्रा का कैलेण्डर सौंपते संपादक प्रो. कलानाथ मिश्र, साथ में हैं यशस्वी प्राध्यापक डॉ. संजय सिंह एवं हिन्दी विभाग ए.एन.कॉलेज के विद्वान प्राध्यापक विद्याभूषण।

महाकवि काशीनाथ पाण्डेय निबंध प्रतियोगिता में तृतीय पुरस्कार प्राप्त करने वाले ए.एन.कॉलेज के हिन्दी विभाग के छात्र शुभम कुमार

RNI No. : BIHHIN05272
ISSN 2349 - 1906
Postal Registration No. : PT-7C

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

Design & Print @ Gyan Ganga Creations # 09334110685